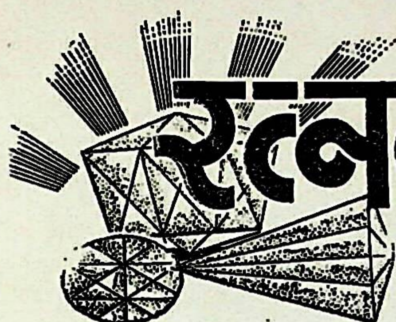
रत्नकरण्ड गौरव

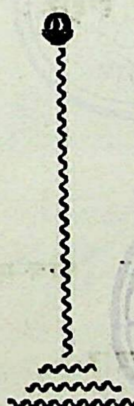
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसी को सादर
भेंट - नाथूराम डों.
26-2-80



रत्नकरण्ड-गौरव

卐

मूलकर्त्ता :-
श्रीमद्भगवत्समंतभद्राचार्य



भावानुवादकः-
नाथूराम डोंगरीय जैन
न्यायतीर्थ, शास्त्री

प्रकाशक :–

जैन साहित्य प्रकाशन

५/१ तम्बोली बाखल, इन्दौर

●

प्रथमावृत्ति, प्रति १०११

अगस्त १९७९

लागत मूल्य ५ रु.

●

ग्रंथ प्राप्ति स्थान :–

(१) डॉ० शांति लाल जैन,
प्राध्यापक जे.इ.एस. कालेज,
जालना (औरंगाबाद) महाराष्ट्र.

(२) संचालक,
जैन साहित्य प्रकाशन
५/१, तम्बोली बाखल, इन्दौर-२

(३) श्री अधिष्ठाताजी,
दि. जैन उदासीनाश्रम
तुकोगंज, इन्दौर

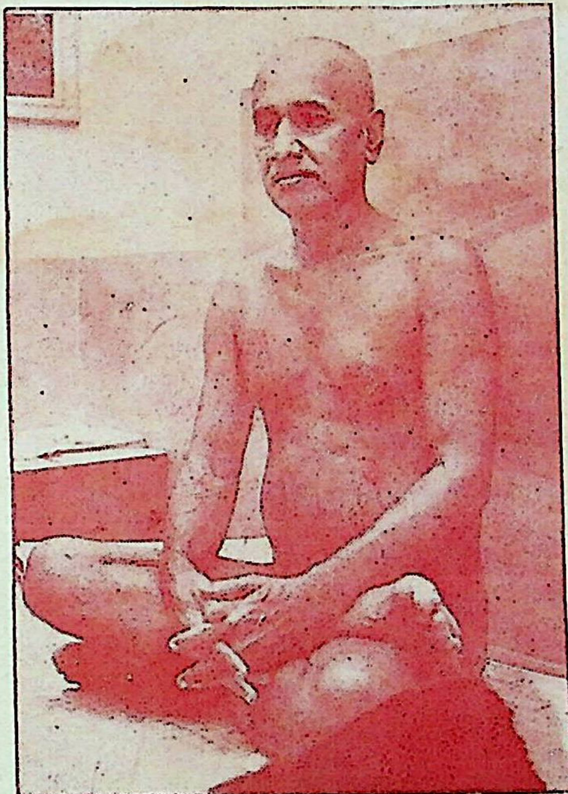
(४) श्री पटवारीजी,
श्री शांतिनाथ जिनालय, (कांच मंदिर),
दीतवारिया बाजार
सर हुकमचन्द मार्ग, इन्दौर

सूचना—लेखक के 'द्रव्य संग्रह दीपिका' एवं 'प्रवचनसार सौरभ' ग्रंथ भी शीघ्र प्रकाशित होने जा रहे हैं।

मुद्रक :– माडर्न प्रिंटरी, लि., कड़ावघाट, इन्दौर.

रत्नकरण्ड-गौरव :-

विश्वधर्म-उद्घोषक, एलाचार्य, परम आध्यात्मिक
त्यागमूर्ति निर्ग्रन्थ संत, मुनिप्रवर,
श्री विद्यानन्दजी महाराज !



श्रद्धेय !

परम पूज्य भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सम्प्रदायातीत विशाल विश्वधर्म के जिन अटल सिद्धांतों की घोषणा करते हुए पूज्य भगवत्समंतभद्र ने इस पवित्र ग्रन्थ का निर्माण कर विश्व को कृतार्थ किया था उसे राष्ट्र भाषा के माध्यम से अनूदित कर उन्हीं के पद चिन्हों पर अग्रसर आप श्री के कर कमलों में समर्पित करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है।

विनम्र-

नाथूराम डोंगरीय जैन

प्रस्तावना

जैन धर्म एक निवृत्ति प्रधान सार्वधर्म है। इसलिए इसमें साधु जीवन का अतिशय महत्व है। फिर भी इस धर्म में गृहस्थ जीवन की उपेक्षा नहीं की गई है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों को प्रदर्शित करने वाले अनेक ग्रंथों की रचना की। उसी परम्परा में 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

शास्त्रीय दृष्टि से यह चरणानुयोग का ग्रन्थ है। स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि जिसमें गृहस्थों एवं साधुओं के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एवं संरक्षण के नियमों का भलीभाँति वर्णन होता है उसे चरणानुयोग कहते हैं—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार—२।४

यद्यपि चरणानुयोग के ग्रन्थों में गृहस्थों के आचारविषयक प्राकृत और संस्कृत भाषा के अनेक ग्रन्थ हैं, जैसे—आचार्य कुन्दकुन्द का रयणसार, सोमदेव कृत यशस्तिलकचम्पू का उपासकाध्ययन, चरित्रसार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि। किन्तु इन सबमें रत्नकरण्डश्रावकाचार अपनी सरलता और प्राचीनता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। उपलब्ध ग्रन्थों में श्रावकाचार विषय का यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्री वादिराजसूरि ने इसे 'अक्षय्यसुखावह' और आचार्य प्रभाचन्द्र ने इसे अखिल सागार मार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य कहा है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र की एक संस्कृत टीका उपलब्ध है, जिसका प्रकाशन आज से ५४ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १९८२ में श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई से, मूल ग्रन्थ के साथ हुआ था। इस प्रकाशन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें ग्रन्थ के सम्पादक पंडित जुगलकिशोर मुख्तार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ८४ पृष्ठों की प्रस्तावना एवं २८२ पृष्ठों का, ग्रन्थ के रचयिता स्वामी समन्तभद्र का खोजपूर्ण विस्तृत परिचय, समय निर्णय एवं उनकी उपलब्ध तथा अनुपलब्ध रचनाओं का पूर्ण विवरण दिया था। इस संस्कृत टीका के अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर 'रत्नकरण्ड विषम पद व्याख्यान' नाम का एक संस्कृत टिप्पण भी उपलब्ध है, जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

यह टिप्पण आरा के जैन सिद्धान्त भवन में वर्तमान है। कनड़ी भाषा में भी इस ग्रन्थ की कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं, तमिल भाषा का 'अरुंगछेप्पु' (रत्नकरण्डक) जिसकी पद्य संख्या १८० है, इस ग्रन्थ को सामने रखकर रचा गया प्रतीत होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (आचार्य उमास्वामी) के पश्चात् जैन वाङ्मय को जिस मनीषी ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। वे हैं प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता स्वामी समन्तभद्र। इनका यशोगान शिलालेखों और जैन वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थ-कारों की रचनाओं में किया गया है। अकलङ्क देव ने इन्हें स्याद्वादतीर्थ का प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, आचार्य विद्यानन्द ने स्वाद्वादमार्गाग्रणी, आचार्य वादिराज ने सर्वज्ञ का प्रदर्शक, मलयगिरि ने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखों ने वीर शासन की सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, समस्त विद्यानिधि एवं कलिकाल गणधर कहकर इनका कीर्तिगान किया है। श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने 'आदिपुराण' में लिखा है कि आचार्य समन्तभद्र का यश तत्कालीन समस्त कवियों एवं वादीजनों के मस्तक पर चूड़ामणि के समान स्थित था—

कवीनां गमकानाञ्च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ।।

रत्नकरण्ड गौरव

जैनधर्म के प्रसिद्ध पारम्परिक विद्वान पं. नाथूरामजी डोंगरीय, गत अनेक वर्षों से जैन आगमों को सर्वजनहितार्थ राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के गद्य-पद्य रूप में अनूदित करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। अभी तक उनके द्वारा रचित आचार्य कुन्दकुन्द का अतिशय प्रसिद्ध 'समयसार वैभव' प्रकाशित हो चुका है 'प्रवचनसार' का भी हिन्दी भावार्थ सहित पद्यानुवाद प्रकाशित होने जा रहा है। उनके 'द्रव्य संग्रह' और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के हिन्दी भावानुवाद भी प्रकाशित हैं! प्रसन्नता की बात है कि उसी श्रृङ्खला में आचार्य समन्तभन्द्र के सर्वातिशय प्रसिद्ध 'रत्नकरन्डश्रावकाचार' का पं. डोंगरीयजी द्वारा सम्पन्न हिन्दी गद्य-पद्यानुवाद मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित हो रहा हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की आनुवादिक भाषा मूल संस्कृतानुगामी सरल एवं मधुर है जो ग्रन्थ के मौलिक रहस्य प्रकट करने में पूर्णतः सक्षम है। आशा है आदरणीय पं. जी की इस राष्ट्रभाषा कृति का भव्यजनों में अतिशय प्रसार एवं प्रचार होगा। हम पं. जी से भी आशा करते हैं कि वे इसी प्रकार जैन आगमों के अन्य ग्रन्थों को भी यथा शीघ्र राष्ट्रभाषा हिन्दी में गद्य-पद्य से समलङ्कृत कर जैन समाज को अनुगृहीत करेंगे।

हमें पूर्ण विश्वास है कि सम्माननीय पं. डोंगरीय जी की इस निस्वार्थ साहित्यिक सेवा के लिए न केवल जैन समाज अपितु समस्त हिन्दी संसार उनका चिरऋणी रहेगा।

दिनांक—२८ अगस्त १९७९
विक्रम विश्वविद्यालय आवासगृह
उज्जैन

महामहोपाध्याय डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन
रीडर, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

विषयानुक्रम

प्राक्कथन

ग्रंथ और ग्रंथकर्ता

देववाणी संस्कृत में निबद्ध प्रस्तुत ग्रंथ को मूल ग्रंथकार ने 'रत्नकरण्ड' के शुभ नाम से संस्कारित किया है—जैसा कि ग्रंथ के उपान्त्य श्लोक द्वारा प्रकट है। 'रत्नकरण्ड शब्द का अर्थ - रत्नों की पिटारी या रत्न मंजूषा होता है। इसमें श्रावकों के आचार का सविशेष वर्णन होने से मूल नाम के साथ 'श्रावकाचार' भी परंपरा से जुड़ा हुआ है। यतः ग्रंथ में आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप बहुमूल्य गुण रत्नों को प्रतिष्ठित किया गया है, अतः ग्रंथ की 'रत्नकरण्ड' संज्ञा सार्थक ही है।

इसके रचयिता तार्किकचक्रचूड़ामणि, स्याद्वाद वारिधि, वादीभकेशरी, महान् धर्म प्रभावक सुप्रसिद्ध जैन संत, स्वनाम धन्य स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य हैं, जिनको जन्म देने का श्रेय आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व फणिमंडल देश के उरगपुर नगर में कदंब बंशोद्भव राजा काकुस्थ वर्मा को प्राप्त हुआ था। इनका जन्म नाम शांति वर्मा था।

इनकी बाल्य काल से लेकर युवावस्था तक की जीवन चर्या के विषय में इतिहास प्रायः मौन है; किन्तु इन्होंने जिन बहुमूल्य कार्य कलापों द्वारा अपनी अप्रतिम प्रतिभा और महानता का परिचय दिया है—इससे ज्ञात होता है कि ये स्वल्प वय में ही जिन दीक्षा धारण कर घोर तपश्चरण एवं ज्ञानाराधन करते हुए अनेक ऋद्धियों व विद्याओं का स्वामित्व प्राप्त कर चुके थे। एक बार तपश्चरण करते हुए इन्हें 'भस्मक' नामा व्याधि उत्पन्न हो गई। परिणाम स्वरूप इनका ग्रहण किया हुआ नियमित आहार जठराग्नि द्वारा कुछ ही समय में भस्म हो जाने लगा। तब ये निरन्तर क्षुधार्त्त (भूख से पीड़ित) ही बने रहने लगे। कुछ दिनों तक इन्होंने उस क्षुधा-वेदना को बड़े धैर्य के साथ सहन किया; किन्तु जब वह दिनों दिन बृद्धिंगत होती चली गई तब मुनि के वेश में साधु के नियमों का पालन करते रह कर रोग से मुक्ति संभव न जान मुनि पद की गरिमा को ध्यान में रखते हुए इन्होंने गुरु से समाधि-मरण की याचना की; किन्तु गुरू ने इन्हें होनहार महान धर्म प्रभावक जान समाधि-मरण करने के स्थान पर मुनि का वेश बदल व्याधि को शांत कर लेने का निर्देश दिया। इन्होंने गुरु आज्ञा को विनम्रता के साथ शिरोधार्य कर भस्मक व्याधि से त्राण पाने के लिये वस्त्र पहिन लिये और विप्र वेश धारण कर यत्र तत्र भ्रमण करने लगे।

भ्रमण करते हुए अन्त में इन्होंने एक मतानुसार कांची-दक्षिण भारत तथा दूसरे मतानुसार काशी (वाराणसी) में राजा शिवकोटि के देवालय में जाकर किसी प्रकार राज पुरोहित का पद प्राप्त कर लिया तथा देवालय में राजभोग के लिए आने वाला बहुमूल्य राज-प्रसाद देवार्पण कराने के बहाने स्वयं ही छद्म रूप में उदरस्थ करना प्रारम्भ कर दिया । बहुघृत मिश्रित राजभोग के सतत सेवन द्वारा भस्मक व्याधि कुछ ही दिनों में शांत होने लगी और प्रसाद बचने लगा । तब किसी के शिकायत करने पर राजा को इन पर सन्देह हो गया ओर इन्हें राजाज्ञा हुई कि देवालय में विराजमान मूर्ति को ये सबके समक्ष या तो नमस्कार करें या दण्ड भुगतने के लिये तैयार रहें । तब स्वामीजी ने अपनी अटल श्रद्धा के बल पर वीतराग देव का स्मरण करते हुए उनकी भक्ति में निमग्न होकर भगवान् के गुणानुवाद गाते हुए बृहत्स्वयंभूस्तोत्र की रचना की–जिसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों की भक्ति का मार्मिक और तार्किक रूप में अजस्र स्रोत फूट पड़ा । भक्ति प्रवाह में बहते हुए जब स्वामीजी ने अपना मस्तक झुकाया तब मस्तक झुकाते ही मूर्ति के मध्य में वीतराग भगवान्-चन्द्रप्रभ मूर्त्त स्वरूप स्वामीजी के सिवाय–राजा व प्रजा–सभी को साक्षात् जैसे दृष्टिगोचर होने लगे ।

इस अकल्पित और चमत्कार पूर्ण घटना से राजा-प्रजा सब इतने प्रभावित हुए कि सभी ने सहर्ष स्वामीजी की शिष्यता स्वीकार कर उन्हें अपना गुरु बना लिया ।

फिर स्वामी समंतभद्र ने अपने दीक्षा गुरु के समीप जा पूर्व का समस्त वृत्तांत निवेदन कर प्रायश्चित लेकर पुनः जिनदीक्षा धारण करली एवं दिगम्बर वेश में तपश्चरण तथा यत्र तत्र विहार करते हुए धर्म प्रभावना संपादन करने लगे ।

वस्तुतः स्वामीजी क्या थे, कैसे थे और उन्हें कौन-कौन भी विद्याएँ सिद्ध थीं ? इन प्रश्नों का उत्तर कोई दें–इसकी अपेक्षा हम स्वामीजी के शब्दों में ही प्रस्तुत कर देना चाहते है, जो उन्होंने स्वयं ही निम्नलिखित श्लोक द्वारा तत्कालीन किसी राजा को दिया था :—

"आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराड् पंडितोऽहम् ।
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं ।।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायाम् ।
आज्ञासिद्धः किमति बहुना सिध्द सारस्वतोऽहम् ।।"

अर्थात्—'हे राजन् ! मैं आचार्य हूं, कवि हूं, वादियों का सम्राट् हूं, पंडित हूं, दैवज्ञ (ज्योतिषी) हूँ, वैद्य हूं, मांत्रिक (मंत्र शास्त्र का ज्ञाता) हूं, तांत्रिक भी हूं, अधिक क्या कहूं —इस समुद्र को मेखला के रूप में धारण किये हुई वसुंधरा पर मैं आज्ञासिद्ध हूं–मेरी आज्ञा भंग करने की शक्ति किसी में नहीं है और अंततः सिद्ध सारस्वत भी हूं (जिसे साक्षात् सरस्वती सिद्ध है) ।" स्वामीजी द्वारा दिया गया

यह स्वयं का परिचय वस्तुतः आत्मप्रशंसा न होकर उस गहरे आत्मविश्वास और उनकी अपनी क्षमताओं की निश्छल अभिव्यक्ति है, जिसकी प्रतीति श्लोक के प्रत्येक शब्द के अर्थ की गहराई में पैठने से हो जाती है। इसी प्रकार श्रवणबेलगोल शिलालेख नं. ५४ में उत्कीर्ण निम्नलिखित श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं–

"पूर्वं पाटलिपुत्र मध्य नगरे भेरी मया ताड़िता।
पश्चान्मालव सिंधु ठक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूल विक्रीड़ितम् ॥

पुनश्च–

काच्यां नग्नाटकोऽहं मल मलिन तनुर्लाम्बुशे पाँडुपिंड:।
पुंड्रोंड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुर नगरे, मिष्ट भोजीपरिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं शशधरधवल: पाँडुरांगस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्ति: स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रंथवादी ॥"

इन दोनों श्लोकों से जाना जाता है कि स्वामी समन्तभद्र ने देश के कोने कोने में विहार कर राजसभाओं में शास्त्रार्थ द्वारा वाद में प्रतिवादियों को परास्त करते हुए अनेकांतात्मक सत्य की किस प्रकार प्रभावना की थी। स्वामीजी द्वारा स्वयं के दिये हुए इन परिचय सूत्रों से आशा है पाठकों की उन विषयक जिज्ञासा किन्हीं अंशों में शांत हो जाएगी।

उन्होंने ग्रंथ निर्माता के रूप में जिन बहुमूल्य कृतियों की रचना द्वारा हमें उपकृत और कृतार्थ किया है उनमें युक्त्यनुशासन, आतममीमांसा, वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरण्ड, तत्वानुशासन कर्मप्रकृति आदि प्रमुख हैं। परंपरा से यह भी जाना जाता है कि आपने तत्वार्थसूत्र ग्रंथ पर गंध हस्ति महाभाष्य की रचना भी की थी–जो चौरासी हजार श्लोक प्रमाण था, किन्तु दुर्भाग्य से आज समुपलब्ध नहीं हो पा रहा और संभवतः आततायियों द्वारा ग्रंथ भंडारों से प्राप्त कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया है। अस्तु.

स्वामीजी सचमुच ही इस युग में एक ऐसे महापुरुष हुए जिनकी प्रशंसा में कुछ भी लिखा जाना अपर्याप्त ही ठहरेगा। अस्तु,

ग्रंथ की विशेषता

सुख शांति की खोज में मानव अनादि काल से ही प्रयत्नशील रहता आया है। इधर विश्व शांति को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर सम्पूर्ण विश्व की एक संघ सरकार बनाने की चर्चाएँ भी मनीषियों द्वारा यदा-कदा की जाती रही

हैं। मानव समाज के व्यापक हित में यदि एक सार्वभौम शासन-तंत्र की परिकल्पना साकार हो जाती है तो इसके समान ही संकुचित साम्प्रदायिक खींचतानों से परे एक विश्वकल्याण कारक सर्वतोभद्र सर्वोदयी विश्वधर्म की प्रतिष्ठा की संभावनाओं को भी निरस्त नहीं किया जा सकता।

विश्वधर्म की रूपरेखा क्या हो सकती है-एक ऐसे धर्म की जिसमें बिना किसी भेदभाव के मानव समाज ही नहीं, प्राणी मात्र का हित सन्निहित हो / एवं जिसकी नींव सत्य, अहिंसा, स्वतन्त्रता, विश्वमैत्री तथा विश्वसंवेदना की पवित्र एवं ठोस आधार शिला पर रखी जाकर, मानव को पूर्णता की ओर अग्रसर करने तथा उसके जीवन को निर्मल बना दुःखों का अंत कर आत्मा से परमात्मा बनाने में सहायक होने की सामर्थ्य रखती हो ?

उपर्युक्त प्रश्न या समस्या का समाधान खोजने के लिये कटिबद्ध जिज्ञासुओं के लिए स्वनाम धन्य स्वामी समन्तभद्र द्वारा विक्रम की द्वितीय शताब्दी में विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' नामक प्रस्तुत ग्रंथ बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिसका स्वामीजी ने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्माण किया था। सार्वधर्म के समीचीन स्वरूप का दिग्दर्शक यह ग्रंथ आत्मकल्याण के साथ ही लोक-मंगल का पवित्र मार्ग भी प्रशस्त करता है।

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥"

अर्थात् मैं (विश्वहितार्थ) ऐसे समीचीन धर्म की व्याख्या करने तत्पर हूं जो प्राणियों को परिपूर्ण कर्म बंधनों एवं संसार के सम्पूर्ण दुःखों से त्राण दिलाकर उन्हें उत्तम सुख प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है।

इस प्रतिज्ञा सूत्र द्वारा ग्रन्थकर्ता ने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए जीवन में उसकी क्या और क्यों आवश्यकता है—इस जिज्ञासा का भी सहज ही समाधान कर दिया है। धर्म ही सुखी बनने का एक मात्र साधन क्यों है ? इस आशंका को निर्मूल करते हुए ग्रन्थकर्ता ने आगे बताया है कि धर्म कोई आत्मभिन्न वस्तु नहीं; प्रत्युत् चिदानंद स्वरूप आत्मा के ही सम्यक्दर्शनादि गुणों का नाम है। स्वपर तत्वप्रतिपादक आप्त पुरुष' उनकी सर्वोपकारिणी वाणी एवं उनके उपदेश का अनुसरण करने वाले गुरुओं तथा इनके द्वारा किये गये मार्ग दर्शन पर यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व तदनुकूल आचरण करने पर ही दुःखों से निवृत्तिपूर्वक वास्तविक सुख की प्राप्ति सम्भव है। लोक में भी कार्यसिद्धि का यही राजमार्ग और नियम है कि पहिले साध्य और उसके साधनों पर यथार्थ ज्ञानपूर्वक श्रद्धान और तदनुकूल अमल (आचरण) किया जाय। यदि सम्यक्दर्शन ज्ञानपूर्वक सम्यक् आचरण भी होगा तो साध्य

के सिद्ध होने में कोई आशंका स्वतः नहीं रह जाती। अतः आत्मा को भी यदि वास्तव में सुखी बनाना है तो इसके लिये भी यही प्रक्रिया अपनानी होगी।

संसार में सुखी बनने का अनादि काल से प्रयत्न करते रहने पर भी शान्ति न पाने एवं दुःखी बने रहने का वास्तविक कारण क्या हैं ? आचार्यश्री के निर्देशानुसार उसका सुनिश्चित कारण है—मिथ्यादर्शन (मोहजन्य भ्रान्तियाँ), अज्ञान या कुज्ञान और पाप कषाय युक्त स्वयं का भ्रष्ट आचरण या असंयम। अनेक प्रकार की मिथ्या भ्रान्तियों एवं लोकमूढ़ता जन्य अज्ञान के कुचक्र में फँसा हुआ यह प्राणी नाना प्रकार के कुकर्म करता हुआ भी सुखी बनने के स्वप्न देखा करता है, जिससे उसके उद्देश्य की पूर्ति होना नितांत असम्भव है, किन्तु सदुपदेश एवं उसके आचरण के अभाव में ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

प्रस्तुत संदर्भ में उल्लेखनीय है कि धर्म किसी साम्प्रदायिक परिधि में उलझी या ढली हुई चीज का नाम नहीं और न वह प्रपंचियों की पाखंड लीला ही है —जैसा कि धर्म के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ जन पाखंडियों के धर्म के नाम पर होने वाले सारहीन क्रियाकांडों को देख कर प्रायः कल्पना किया करते हैं। धर्म तो एक वैज्ञानिक सत्य के रूप में आत्मजाग्रति पूर्वक अपनी भ्रांत धारणाओं में विवेक पूर्ण क्रान्ति करते हुए चरित्र निर्माण कर आत्मा को पवित्र बनाने का सक्रिय प्रयत्न है।

मैं कौन हूं ? और विश्व एवं उसके पदार्थ क्या हैं ? तथा इनसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? सुख क्या है, कहाँ है और वह कैसे प्राप्त होगा। तथा दुःख क्या है, क्यों है, और कैसे दूर होगा ? इन सारे पहलुओं पर गंभीरता और विवेक पूर्वक विचार कर यथार्थ निर्णय लिये बिना विविध दुःखों से त्राण पाकर सुखी बनने की समस्या का समाधान होना असम्भव ही है।

भौतिक विज्ञान के चमत्कार पूर्ण आविष्कारों के बल पर तथा कथित ऊपर चन्द्रलोक एवं नीचे समुद्र के अतल तल को असीम साहस के साथ स्पर्श कर लेने वाला आज का मानव अब भी अशांत और दुःखी क्यों बना हुआ है ? इसका आधार भूत कारण है— जैसा कि ऊपर कहा चुका है—भ्रान्तिमूलक अज्ञान और उसका असंयमित भ्रष्ट आचरण। जब तक उसे इस सत्य का बोध नहीं हो जाता कि मृगमरीचिका जैसे मृग की प्यास नहीं बुझा सकतीं वैसे ही ऐन्द्रिक सुख सुविधाएँ भी सुखाभिलाषियों की आशा को पूर्ण नहीं कर सकती, तब तक वह अशांत और दुःखी ही बना रहेगा। आप्त विहित धर्म की तो यह दृढ़ घोषणा है कि आत्मभिन्न जिन जड़ पदार्थों का सुखी बनने के उद्देश्य से उत्पादन, संवर्धन और चयन किया जाता है, उनमें सुख नहीं है। सुख तो आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का आत्मा की ओर उन्मुख होकर आत्मा में ही उसे खोजने एवं विकसित करने की बात धर्म करता है।

प्रस्तुत कृति में श्रद्धेय स्वामीसमंतभद्र ने भगवान् महावीर के सर्वोदय तीर्थ का स्वरूप बड़ी स्पष्टता के साथ विश्वमानव समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर धर्मज्ञान शून्य जनता को धर्म का स्वरूप–समझाते हुए उसकी लौकिक और पारलौकिक उपयोगिता से भी परिचित कराया है । धर्म परलोक में तो सुख शांति प्रदान करता ही है, किन्तु सम्यग्दृष्टि बन कर विवेकीजन इस जीवन में भी मानसिक क्लेशों और आकुलताओं से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, तथा समाज, देश एवं विश्व में शांति की स्थापना भी इसी के अणुव्रतादि १२ व्रतों के अतीचार रहित परिपालन द्वारा संपादन की जा सकती है। वस्तुतः इस गौरव पूर्ण ग्रन्थ में निरूपित मार्ग का अपने जीवन के अन्त पर्यंत अनुसरण कर लोक और पर-लोक दोनों में सुख-शांति को प्राप्त किया जा सकता है । इसीलिये समाज में इसका पठन पाठन भी शताब्दियों से बड़ी श्रद्धा एवं रुचि पूर्वक प्रत्येक नगर तथा ग्रामों की शास्त्र-सभाओं, मन्दिरों तथा घर घर में किया जाता रहा है ।

निश्चय और व्यवहार-धर्म के दो समन्वित रूप

जैन वाङ्मय में धर्म को निश्चय और व्यवहार के रूप में प्रदर्शित किया गया है । आत्मोन्मुख–अंतर्दृष्टि पूर्वक वीतरागता युक्त स्वरूपाचरण (आत्मलीनता या शुद्धोपयोग) को निश्चय धर्म तथा निश्चय धर्म की प्राप्ति में सहायक पवित्र भावों एवं उनके द्वारा विवेकपूर्वक की जाने वाली मन-वचन-काय की ऊर्ध्वमुखी शुभ प्रवृत्तियों तथा अशुभ भाव और पापादि क्रियाओं से निवृत्ति को व्यवहार धर्म निरूपित किया गया है। भगवान महावीर एवं उनके पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकरों तथा अन्यान्य महापुरुषों ने सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि बन कर विवेक पूर्वक हिंसादि पापों का पूर्णतया परित्याग कर महाव्रत ग्रहण करते हुए जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण एवं इन्द्रिय व प्राणि संयम स्वरूप व्यवहार धर्म की साधना व आराधना द्वारा अपने को निश्चय धर्म के परिपालन करने का पात्र बनाया और तत्पूर्वक स्वरूपाचरण रूप निश्चय धर्म में लीन हो अंत में निर्वाण पद प्राप्त किया है। उक्त प्रक्रिया को ही उन्होंने श्रावक एवं मुनि धर्म के रूप में पात्रानुसार निरूपित कर अन्य असंख्य भव्यजनों को भी धर्म के मार्ग पर लगा धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया है । भरत चक्रवर्ती ने भी महाव्रतादि २८ मूलगुणों के परिपालन की प्रतिज्ञा लेते हुए मुनिधर्म धारण कर आत्मध्यानस्वरूप निश्चय धर्म में लीन होकर कैवल्य प्राप्त किया था। इस सब के होते हुए भी आधुनिक युग में एक ओर स्वयं स्वाध्याय, धर्मोपदेश, जिनभक्ति, पूजा दानादि व्यवहार धर्म का पालन करते हुए भी केवल निश्चय के पक्ष व्यामोह में कुछ हमारे बंधु मनीषी जन-यत्र तत्र अपने प्रवचनों द्वारा निश्चय धर्म–(आत्म-लीनता) से स्वयं दूर रहकर भी व्यवहार धर्म और उसकी साधना करने वालों की न जाने क्यों मखौल उड़ाते देखे जाते हैं तथा व्यवहार धर्म को अधर्म के

समान घोषित कर उस पर से जन साधारण की श्रद्धा बढ़ाने की जगह हटाने तथा उसे जड़ की क्रिया कह प्रकारान्तर से उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों व स्वेच्छाचारित्व को ही बढ़ावा दे रहे हैं। वहीं दूसरी ओर निश्चय धर्म के मर्म से अनभिज्ञ अधिकांश जन केवल व्यवहार धर्म के परिपालन से ही संतुष्ट हो निश्चय धर्म को अलक्ष्य किये जा रहे हैं, जो मोक्ष का साक्षात् कारण है। निश्चय या व्यवहार की यह एकांत्र परक खींचा-तानी ही - आज समाज में भी व्यर्थ ही विसंवाद का कारण बनती जा रही है।

निश्चय और व्यवहार धर्म के परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले सम्बंधों के विवेचन के विस्तार में न जाते हुए यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रारंभ से अन्त तक साधन भूत व्यवहार धर्म का आश्रय लिये बिना साध्य रूप निश्चय धर्म पर पहुंचना और उस पर टिके रहना संभव नहीं है।

निश्चय ओर व्यवहार धर्म की पारस्परिक साधन साध्य रूप मैत्री कोई अज्ञात तथ्य नहीं है। बृहद्द्रव्य संग्रह ग्रंथ के प्रणेता परम पूज्य आचार्य श्रीमन्नेमिचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हुए प्रतिपादन किया है कि :—

"तव सुदवदवं चेदा झाण रह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥२७॥"

—द्रव्यसंग्रह

अर्थात् तप श्रुत व्रत संयुक्त आत्मा ही ध्यान रूपी रथ की धुरा का धारक हो सकता है। (आत्मलीनता रूप निश्चय धर्म को पा सकता है), अतः तप श्रुत व्रतों के परिपालन में (जो व्यवहार धर्म है) सदा लीन रहो।

आचार्य श्री ने व्यवहार धर्म को निश्चय का साधक मान कर ही तप श्रुत व व्रतरत रहने की प्रेरणा कीं है। यदि ये अनावश्यक या कोरी जड़ की क्रियाएँ होतीं तो आचार्य उन्हें निश्चय धर्म का साधक मान उनमें लीन रहने की प्रेरणा न करते।

'समयसार' के व्याख्याकार परम पूज्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी अपनी समयसार की टीका के अन्त में स्याद्वाद की पुष्टि पूर्वक निश्चय-व्यवहार धर्म के पारस्परिक साध्य-साधन एवं मैत्री भाव को स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं कि—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहोस्वमिहोपयुक्तः
ज्ञानक्रियानय परस्परतीव्रमैत्री —
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

अर्थात् जो पुरुष स्याद्वाद न्याय का प्रवीणपना और निश्चल व्रत समिति गुप्ति रूप संयम इन दोनों कर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ आत्मा

को निरंतर भावता है वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय का उन दोनों में परस्पर हुआ जो तीव्र मैत्री भाव उसका पात्र हुआ इस निज भावमयी भूमिका को पाता है–जो ज्ञाननय को ही ग्रहण कर क्रियानय को छोड़ता है वह प्रमादी स्वच्छंद हुआ इस भूमिका कों नहीं पाता और जो क्रियानय को ही ग्रहण कर ज्ञाननय को नहीं जानता वह भी शुभ कर्म में संतुष्ट हुआ इस निष्कर्म भूमिका को नहीं पाता । तथा जो ज्ञान पाकर निश्चल संयम को अंगीकार करते हैं उनके ज्ञाननय और क्रियानय के परस्पर अत्यंत मित्रता होती है वे ही इस भूमिका को पाते हैं। "समयसार परिशिष्ट पृष्ठ ५६३ (रायचन्द्र शास्त्र माला) ।"

छहढालाकार पंडित प्रवर दौलतरामजी ने भी अपने 'छहढाला' की तीसरी ढाल के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग की व्याख्या करते हुए व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का कारण माना है। वे लिखते हैं —

"सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो द्विविध विचारो ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो ।।"

श्रीमद्‌भगवत्कुंदकुंद ने भी आध्यात्मिक ग्रंथ प्रवचनसार में निश्चय धर्म (शुद्धोपयोग) का संपादन करने हेतु श्रमण धर्म—जो कि २८ मूलगुण स्वरूप व्यवहार धर्म ही है–भली भाँति अंगींकार कर पालन करने, गुरु से दीक्षा लेने तथा चारित्र में दूषण लगने पर प्रायश्चित्तादि लेने का उपदेश दिया है । क्या यह सब जड़ की क्रिया और अधर्म है ? यदि शुद्धोपयोग स्वरुप निश्चय धर्म की उपलब्धि के पूर्व अशुभ भावों एवं प्रवृत्तियों के समान व्यवहार धर्म एवं शुभ भावों और प्रवृत्तियों को भी हेय समझ अशुभ प्रवृत्ति रूप स्वच्छंद विहार किया जाएगा तो निश्चय धर्म की–जो कि शुद्धोपयोग रूप है–प्राप्ति तो होगी ही नहीं; किन्तु दुर्गति का पात्र अवश्य होना पड़ेगा । इससे सिद्ध है कि कैवल्य की प्राप्ति होने तक दोनों धर्म साथ साथ मित्रवत् चलते हैं ।

परम पूज्य भगवत् कुंदकुंद स्वामी ने स्वयं अपने 'समयसार' ग्रंथ की गाथा नं. १२ में यह भी स्पष्ट बतलाया है कि किसे कौनसे नय से उपदेश की उपयोगिता एवं पात्रता है। वे लिखते हैं —

"सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।।"१२।।

इस गाथा का अर्थ करते हुए स्व. प. प्रवर जयचन्द्रजी लिखते हैं :—

"जो शुद्धनय तक पहुंच श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् हो गये उन (परम भाव दर्शियों) को तो शुद्ध का उपदेश (आज्ञा) करने वाली शुद्धनय

जानने योग्य है (यहाँ शुद्ध आत्मा का प्रकरण है इसलिये शुद्ध, नित्य, एक ज्ञायक मात्र आत्मा जानना) और जो जीव अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा के तथा ज्ञान चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंच सके–साधक दशा में ही ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।"

–समयसारपृष्ठ ३५ (परमश्रुत प्र.)

प्रथम तो परम पूज्य कुंदकुंद स्वामी के उल्लिखित मार्ग दर्शन के विरुद्ध जनसाधारण को–जो परमभाव दर्शी नहीं है–परमभाव दर्शी मान व्यवहार निरपेक्ष केवल शुद्धनय का उपदेश देना ही स्वामीजी के निर्देश का स्पष्ट उल्लंघन है; फिर जनसाधारण को–जिन्हें केवल निश्चय के उपदेश से अधिकांश में भ्रमित होने की संभावना रहती हैं, अतः जो व्यवहार धर्म का उपदेश पाने तथा समझने और उसके द्वारा फिर निश्चय धर्म पर पहुंचाने के योग्य हैं, उन्हें प्रारम्भ से ही व्यवहार धर्म को हेय बताने से यदि उससे घृणा हो जाय तो यह एक प्रकार से उन्हें धर्म लाभ से ही वंचित कर देना होगा। जो आकंठ पापों और विषय कषायों में डूबे हुए हैं उन्हें पापों का परित्यांग न कराकर व्यवहार धर्म से घृणा कराना सचमुच आश्चर्यजनक है !

व्यवहार और निश्चय धर्म के सम्बन्ध में स्व. परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का कथन विशेष ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं :–

"जिस प्रकार फूल में फल उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यवहार धर्म म निश्चय धर्म उत्पन्न होता है। जैसे जैसे फल बढ़ता जाता है वैसे वैसे ही फूल बिखरता जाता है उसी प्रकार जैसे जैसे निश्चय बढ़ता है वैसे-वैसे व्यवहार धर्म स्वयं ही बिखरता जाता है। फल की उत्पत्ति ही फूल की सार्थकता है। जिस फूल में फल नहीं लगता वह फूल निरर्थक होता है, इसी प्रकार जिस व्यवहार धर्म में निश्चय धर्म उत्पन्न नहीं होता वह व्यवहार धर्म निरर्थक है।" अर्थात उससे मोक्ष नहीं हो सकता।

—अमरभारती अंक १३, वर्ष ६ (जून ७५)

आचार्य श्री के अनुसार व्यवहार और निश्चय धर्म की स्थिति फूल तथा फल के समान है। किस फूल में फल आवेगा–इसकी हमें जानकारी नहीं होती; किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि जब भी फल आवेगा; फूल में ही आयेगा और तब फूल स्वयमेव बिखर जायगा। अतः फल आने के पूर्व फूल की कितनी और क्या उपयोगिता है, यह सरलता से समझा जा सकता है। फल आने के पूर्व ही फूल को मसलना या उसे निरर्थक मान तोड़ डालना अथवा उपेक्षा करना न तो उचित है और न बुद्धिमत्ता ही है। यदि फल पाने की इच्छा है तो फूल के फल बन जाने तक उसकी सब प्रकार सेवा और संरक्षण करना ही योग्य है।

क्या मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र के समान व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी मिथ्यात्व और अधर्म है—जिन्हें आचार्यों और उनसे पूर्व स्वयं भगवान् ने धर्म कहा व आचरा है ? और जबकि प्राथमिक दशा में व्यवहार धर्म के उपदेश द्वारा ही जन साधारण को भी उन्होंने तत्वज्ञान प्रदानकर निश्चय धर्म के मार्ग पर लगाया है ?

संभव है कि निश्चय धर्म के मर्म को न समझने वाला कोई व्यक्ति व्यवहार धर्म का परिपालन करते हुए भी निश्चय धर्म को प्राप्त न हो सके—जैसा कि दूर-भव्य, दूरानदूरभव्य तथा अभव्य जीवों को अभी या कभी भी निश्चय धर्म को प्राप्त करने की योग्यता न होने से स्वाभाविक है; किन्तु इस कारण से भी व्यवहार धर्म को हेय या सर्वथा निरर्थक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हमें यह ज्ञात नहीं है कि हम निकट भव्य हैं या दूर भव्य, अथवा भव्य हैं या अभव्य ? और चूंकि व्यवहार पूर्वक ही निश्चय की प्राप्ति होगी अतः सभी को व्यवहार धर्म का तब तक भली भांति परिपालन करने का पुरुषार्थ करते रहना है—जब तक कि निश्चय धर्म की प्राप्ति न हो जावे । इसके सिवाय जिन्हें अभी या कभी भी निश्चय धर्म को प्राप्त करने की योग्यता नहीं है ऐसे दूर भव्य और अभव्य जीवों की दृष्टि से यदि विचार किया जावे तो कहना होगा कि उन्हें और अन्य को भी व्यवहार धर्म का आचरण ही संसार की दुर्गतियों और भयानक दुखों से बचने का एक मात्र साधन है । अतः व्यवहार धर्म सभी को एक ओर तो दुर्गतियों के दुःखों से बचाता है और दूसरी ओर निश्चय का साधक बन कर मुक्ति का परंपरा साधक कारण भी बनता हैं । इसलिये उसकी जीवन में उपयोगिता स्वतः सिद्ध है ।

किसे, कब, किस दशा में क्या हेय और क्या उपादेय है—इसे सर्वथा एकांत दृष्टि से सब पर लागू नहीं किया जा सकता । दूध और घी स्वस्थ मनुष्य को अमृत के समान पौष्टिक और उपयोगी है; किन्तु मोतीझरा (टाइफाइड) से पीड़ित व्यक्ति के लिये उस दशा में विष । इसी प्रकार मँझधार में डूबते हुए को नाव शरण-भूत हैं और किनारे लग जाने पर वह स्वतः ही छूट जाती है; क्योंकि उसमें बैठे रहने में फिर सार नहीं रहता । इसी प्रकार प्रथम कक्षा में बालक को अ, इ, उ का ज्ञान कराने वाली पुस्तक उपादेय तथा एम. ए. कक्षा के कोर्स की पुस्तकें ज्ञान का भंडार होते हुए भी उस (प्रथम कक्षा के) बालक की दृष्टि से उपयोगी व तात्कालिक उपादेय नहीं है, यद्यपि बालक को ज्ञान का विकास करते हुए एम. ए. पास करना होता है, इससे सिद्ध है जो व्यक्ति जिस परिस्थिति में है उसे उस समय अपनी योग्यतानुसार उसी धर्म मार्ग की साधना और आराधना करना शक्ति की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है । किन्तु इतना अवश्य ही जान लेना चाहिये कि मुक्ति प्राप्ति के प्रमुख साधन निश्चय धर्म को सदा सभी को लक्ष्य में बनाये रखना है जिसके बिना व्यवहार व्यवहाराभास हो जाता है; क्योंकि मुक्ति को लक्ष्य बनाये बिना जो

भी कार्य किया जायगा वह सांसारिक ख्याति, लाभ, पूजा एवं इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लक्ष्य से ही किया जायगा। अस्तु,

वर्तमान युग में देश और समाज के समक्ष सबसे बड़ी समस्या नैतिक मूल्यों के तीव्र गति से ह्रास की है। जिसके परिणाम स्वरूप मानव दानवता की ओर अग्रसर होता चला जा रहा है। ऐसी दशा में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय मनुष्य को पतन के गहन गव्हर से निकाल कर न केवल नैतिकता के धरातल पर ला सकता है, अपितु उसे आत्मिक सुख शांति प्रदान करते हुए उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचाकर आत्मा से परमात्मा बना देने का मार्ग भी प्रशस्त करता है, जिसकी आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पूर्ति करके परम पूज्य स्वामी समन्तभद्र ने मानव समाज का असीम उपकार किया है।

यदि इस ग्रंथ में प्रतिपादित धार्मिक श्रद्धा, ज्ञान एवं सदाचार के नियमों का मानव समाज स्व पर हित में दृढ़ता पूर्वक पालन करने का संकल्प करले तो संसार में प्रायः सर्वत्र होने वाले अन्याय, अत्याचार अनाचार, व्यभिचार, हिंसा, झूठ, लूट खसोट आदि दुष्कर्मो एवं पाखंडों का अन्त होकर सुख-शांति के प्रतिष्ठित होने में तनिक भी देर न लगे - जिसके लिये मानव सदा से लालायित रहा है। अतएव इस ग्रंथ की महत्ता एवं उपादेयता भी स्वयं सिद्ध है।

प्रस्तुत रचना व ग्रंथ की अन्य टीकाएँ :-

इसकी हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएँ समुपलब्ध हैं – जिनमें जयपुर निवासी स्वर्गीय श्री पं. सदासुखदासजी द्वारा रचित टीका विस्तृत और सर्वोपरि है। विद्यार्थियों के लिये अन्वयार्थ सहित अन्य विद्वानों ने भी टीकाएँ की ही हैं, जिनसे समाज लाभान्वित होता रहा हैं। इनके सिवाय श्री पं. गिरधर शर्मा द्वारा रचित हिन्दी में इसका पद्यानुवाद भी उपलब्ध है। जो अत्यन्त सरल, व लोक प्रिय है। इन सब मूल्यवान कृतियों के रहते हुए भी अब से करीब ७–८ वर्ष पूर्व वर्णी ग्रंथमाला वाराणसी के तत्कालीन सुयोग्य मंत्री एवं जैन विद्वत्परिषद् के भू. पू. अध्यक्ष न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलालजी कोठिया ने मेरे द्वारा अनुवादित 'समयसार वैभव' ग्रन्थ का अवलोकन कर मुझ से अनुरोध कर प्रेरणा की कि मैं कुंदकुंदस्वामी के 'प्रवचनसार' आदि ग्रन्थों तथा स्वामी समन्तभद्र के इस रत्नकरण्ड (श्रावकाचार) ग्रंथ का भी राष्ट्र भाषा में पद्यानुवाद एवं संक्षिप्त भावार्थ लिखने का प्रयास करूँ। उनकी प्रेरणानुसार स्व पर हित में यह कार्य संपादन करने में मुझे प्रसन्नता हुई। रचनाओं के सम्पन्न हो जाने पर यह उचित और आवश्यक प्रतीत हुआ कि इन्हें समाज के लाभार्थ प्रकाशित भी अवश्य किया जाये।

हर्ष है कि सर्व श्री प्रिय डॉ. शांतिलालजी जैन M. A. Ph. D. प्राध्यापक जे. इ. एस. कालेज जालना, (महाराष्ट्र) के परिपूर्ण-सक्रिय सहयोग तथा मोदी हेमकरणजी जैन इन्जीनियर राँची, डॉ. के. एल. बंडी (फिजीशियन एण्ड सर्जन) इंदौर, पाटनी श्री. राजमल जी जैन सीतलामाता, इंदौर व सेठ झूमरमलजी पाटनी जालना, के हार्दिक अनुकरणीय सहयोग से यह ग्रंथ प्रकाश में आकर समाज के लाभार्थ इस रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके लिये मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

श्रीमान् महामहोपाध्याय डॉ. हरीन्द्रभूषणजी जैन--(रीडर संस्कृत, पालि-प्राकृत विभाग) विक्रम विश्व विद्यालय उज्जैन (म. प्र.) ने रूचि पूर्वक तत्परता के साथ ग्रंथ की प्रस्तावना लिखने का कष्ट कर मुझे जो आभारी बनाया है, उसके लिये उन्हें धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता ही होगी।

इस ग्रंथ का प्रकाशन इन्दौर नगर में विश्व धर्म उद्घोषक एलाचार्य पूज्य दिगम्बर संत मुनि श्री विद्यानंदजी महाराज के वर्षाकालीन चातुर्मासिक योग के सुअवसर पर हो रहा है। उनके कर कमलों में ग्रंथ को समर्पण करने का मुझे जो सुयोग प्राप्त हुआ है इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

इस ग्रंथ की प्रेस कापी करने में मुझे श्रीयुत पं. हुकमचन्दजी जैन M. A. अध्यापक तिलोक जैन हायर सेकेन्डरी स्कूल का तथा मुद्रण कार्य में श्री बाबू ईश्वरचन्द्रजी जैन संचालक माडर्न प्रिन्टरी का हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है इनके सिवाय अन्य जिन महानुभावों का जिस रूप में भी सहयोग मिला है उनके लिये मैं हार्दिक धन्यवाद देते हुए अन्त में सावधानी वर्त्तते हुए भी जो त्रुटियाँ हुई हो या रह गई हों उनके लिये क्षमा चाहते हुए विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि वे उन्हें सुधारकर मुझे भी सूचित करने का कष्ट स्वीकार करें।

इस संदर्भ में मैं अपने पूज्य गुरूवर्य श्रीमान् विद्वद्वर पंडित जगन्मोहनलालजी सिद्धांतशास्त्री कटनी, का परम आभारी हूँ कि जिन्होंने पांडुलिपि का आद्योपांत अवलोकन कर यथा योग्य संशोधनादि द्वारा सत्परामर्श देने की कृपा की है।

इन्दौर
पर्युषण पर्व
श्री वीर नि. २५०६
दि. ३०, अगस्त १९७९

विनम्र

नाथूराम डोंगरीय जैन

विषय निर्देशिका
(ग्रंथसार)

प्रथम अध्याय

प्रस्तुत अध्याय में सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उनमें से सम्यग्दर्शन का सांगोपांग विवेचन किया गया है। मोहान्धकार में निमग्न पथभ्रष्ट प्राणियों को—तत्वज्ञान के प्रकाश द्वारा उनका भ्रम दूर कर—परमार्थ पथ प्रदर्शन करने वाले असाम्प्रदायिक परमात्म स्वरूप वीतराग आप्त (देव)—उनकी सर्वोपकारिणी वाणी एवं उनके निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर विषय कषाय विमुक्त-ज्ञानध्यान तपोनिष्ठ साधुओं (गुरुओं) पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन कहा गया है; किन्तु वह श्रद्धान तीन मूढ़ता और आठ मद रहित एवं अष्टांग सहित होना चाहिये। सम्यक्दर्शन के इस लक्षण में, विचार करने पर, अन्यत्र प्रदर्शित एवं विवेचित अन्यान्य लक्षणों का सहज ही समावेश हो जाता है। इसी अध्याय में सच्चे देव शास्त्र, गुरु का स्वरूप संप्रदा-यातीत निष्पक्ष भाव से गुणवत्ता के आधार पर दर्शाकर सम्यग्दर्शन के आठ अंग, तीन मूढ़ता व अष्ट मदों के लक्षणों की विवेचना भी की गई है। साथ ही सम्यक्दर्शन की महिमा का प्रतिपादन करते हुए व्यक्ति की उच्चता और नीचता का आधार जन्मना कुल जाति को न मान कर सम्यक्दर्शनादि गुणों को बताया गया है। यहाँ तक कि यदि सम्यक्दृष्टि कोई चांडाल भी हो तो वह देव के समान पूज्य बतलाया है; क्योंकि उसकी अन्तरात्मा पवित्र है। धर्म के प्रसाद से एक श्वान भी देव बन ज़ाता है और पाप के फल से देवता भी श्वान योनि पाकर पतन का पात्र होता है। अतः अधर्म से विमुख होकर मानव को धर्म (सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र) की शरण लेकर जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा स्वामीजी ने इस अध्याय में देते हुए यह भली भाँति स्पष्ट किया है कि जब तक जीव संसार में रहता है तब तक धर्म के प्रसाद से स्वर्गादि के सर्वोच्च पदों को प्राप्त करता तथा अंत में तीर्थंकरादि महान पदों से विभूषित होता हुआ निर्वाण के अजर अमर शाश्वत पद को पाकर सदा के लिये सुखी बन जाता है।

द्वितीय अध्याय

ग्रंथ के इस दूसरे अध्याय में सम्यक्ज्ञान के स्वरूप और उसके साधनभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग के लक्षणों के प्रतिपादन से यह स्पष्ट किया है कि चारो अनुयोगों को सम्यक्दृष्टि का ज्ञान यथार्थ रूप में जानता हुआ विकास को प्राप्त होता है; क्योंकि व्यक्ति की योग्यता और रुचि के अनुसार चारों अनुयोग सन्मार्ग प्रदर्शन कर हेयोपादेय के ज्ञान एवं उसकी बृद्धि में सहायक होते हैं।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में सम्यक्चारित्र को धारण करने की आवश्यकता का (सम्यक्दर्शन और ज्ञान के हो जाने पर भी) निदर्शन करते हुए उसकी उपयोगिता बताई गई है। पुनः सम्यक्चारित्र का स्वरूप और उसके सकल एवं विकल दो भेद करते हुए निर्ग्रन्थ अनगारों (मुनियों) को सकल चारित्र एवं सग्रन्थ सागारों (गृहस्थों) को विकल चारित्र का पात्र निरूपित किया है। तत्पश्चात् विकल चारित्र के अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत के रूप में तीन भेद कर पंचाणुव्रतों का वर्णन किया है. साथ ही उनके अतीचार भी (प्रत्येक व्रत में पाँच-पाँच)—यथाक्रम से वर्णन कर अणुव्रतों और पंच पापों में प्रसिद्ध होने वालों के नामों का उल्लेख किया गया है।

स्वामीजी ने मानव को अपना जीवन निष्पाप और निष्कलंक बनाने के लिए (यदि वह परिपूर्ण पापों का त्याग न कर सके तो) कम से कम एक देश (स्थूल रूप में) पापों का त्याग करके अणुव्रतों का पालन करने का विधान किया है। व्रतों के अतीचारों का वर्णन करते हुए उनसे बचकर चलने की जो बात कही गई है, उससे आचार और व्यवहार में शिथिलाचार का उन्मूलन करने की प्रेरणा मिलती है। अन्त में मद्य, मांस, मधु के त्याग के साथ पंच अणुव्रतों को ही गृहस्थ के मूलगुणों के रूप में अंगीकार करने का विधान किया है।

चतुर्थ अध्याय

प्रस्तुत अध्याय में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत एवं भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रतों के रूप में निरूपित कर उनका स्वरूप, व्रत धारण करने का महत्व और अतीचारों का भली भांति वर्णन करते हुए अणुव्रती-गृहस्थों को उनके परिपालन करने का विधान किया गया है। ऐसा इसलिये कि जिससे अणुव्रतों में और भी गुणों की वृद्धि होकर, पापों में क्रमशः कमी होती जाए। अनर्थदण्ड के पांच भेद कर उनसे बचने की तथा भोगोपभोग और उनकी सामग्री में कमी करने की सुन्दर विधि भी इसी अध्याय में वर्णित है।

पंचम अध्याय

इसमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य—इन चार शिक्षाव्रतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। इन व्रतों की विधि, उनका महत्व, लाभ एवं अतीचारों को भली भांति दर्शाते हुए वैयावृत्य के अन्तर्गत दान और उसके भेद व दान का महत्व एवं चारों दान में प्रसिद्ध व्यक्तियों का नामोल्लेख विशेष रूप में किया गया है। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति भाव से प्रतिदिन पूजन करने की सविशेष प्रेरणा करते हुए आचार्य श्री ने भगवान की पूजा को वैयावृत्य का ही एक अंग दर्शाकर उसे सर्व दुःखापहारक एवं सिद्धि प्रदायक निरूपित किया है।

षष्ठ अध्याय

इसमें ग्रन्थकर्ता ने गृहस्थ को अन्त समय में आत्महितार्थं सल्लेखना—(समाधि-मरण) व्रत धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया है । सल्लेखना किस प्रकार धारण करना चाहिये एवं किस क्रम से कषायों तथा आहारादिक का त्याग कर अन्तिम क्षणों में शान्ति पूर्वक धर्मामृत का पान करते हुए—शरीर का विसर्जन करना युक्त है—यह भली भांति समझाते हुए सल्लेखना के अतीचारों से बचाव करने की प्रेरणा की है और सल्लेलना धारण कर धर्म की आराधना करने का अन्तिम फल भी निःश्रेयस (मुक्ति) बताया है, साथ ही निःश्रेयस का स्वरूप भी सविशेष रूप में दर्शाया है ।

सप्तम अध्याय

ग्रन्थ के इस अन्तिम अध्याय में श्रावकों (अणुव्रती गृहस्थों) के ग्यारह पदों का और उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप का वर्णन किया गया है, ताकि गृहस्थ अणुव्रती बन कर यथाशक्ति धीरे-धीरे अपने व्रतों को समुन्नत बना कर पापों और कषायों से निवृत्त होता हुआ महाव्रतों की ओर अग्रसर होता रहे । अन्त में श्रेयोज्ञाता का यथार्थ स्वरूप भी आचार्य श्री ने दर्शा दिया है । उनके अनुसार आत्मा का वास्तविक शत्रु पाप है—जो सम्पूर्ण दुःखों का कारण है और धर्म यथार्थ में बंधु है—जिससे वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है—मन में ऐसी दृढ़ श्रद्धा करने वाला व्यक्ति यदि अपने शुद्धात्म स्वरूप को भी जानता है—वही निश्चय से श्रेयोज्ञाता बन कर कल्याण का पात्र होता है । ग्रन्थ के अन्त में समय (आत्मा) के स्वरूप को जानने की बात कह कर ग्रन्थकर्ता ने धर्मीजनों को आत्मज्ञान से समन्वित होने की आवश्यकता के प्रतिपादन द्वारा यह भी दरशा दिया कि धर्म को व्यवहार और निश्चय के मैत्री-भाव पूर्वक धारण और आराधन करने में ही आत्महित सन्निहित है । शुद्धात्म ज्ञान शून्य (अन्तर्दृष्टि हुए विना) वाह्य साधना परमार्थ (मोक्ष) की सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकती ।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार समन्वित सार्व धर्म का विवेचन कर मूल ग्रन्थ-कर्ता भगवत्समंतभद्र ने न केवल किसी व्यक्ति, वर्ग, समाज या देश को, प्रत्युत्, अखिल विश्व को कृतार्थ किया है । और इसीलिये सर्वोदय तीर्थ स्वरूप इस ग्रन्थ की संप्रदाय निरपेक्ष, सार्वभौम तथा सार्वकालिक उपयोगिता एवं उपादेयता असंदिग्ध है ।



प्रकाशकीय

विश्वहितार्थ जिस सार्वधर्म की घोषणा व्यावहारिक धरातल पर जैनदर्शन ने की है उसी की सर्व साधारण को उपलब्धि कराने हेतु परम पूज्य स्वामी समन्तभद्र ने इस ग्रंथ की रचना कर अपनी विराट लोकोपकारिणी भावना का परिचय दिया था। ऐसे विशिष्टतम ग्रंथ के गौरव को गद्य के साथ पद्यों में भी गेय बनाकर भावानुवाद द्वारा आधुनिक सरल, सुबोध राष्ट्रभाषा के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का पवित्र कार्य सौभाग्य से समाज के चिरपरिचित विद्वान् श्रीमान् गुरुवर्य श्रद्धेय पू. पं. नाथूरामजी डोंगरीय, न्यायतीर्थ, शास्त्री द्वारा सम्पन्न हो रहा है, जो पूर्व में अनेक कृतियों के सिवाय श्रीमद्‌भगवत्कुंदकुंद के समयसार तथा प्रवचनसार जैसे अप्रतिम ग्रंथरत्नों को राष्ट्रभाषा में ही वैभवान्वित एवं सौरभान्वित कर चुके हैं और बिना किसी प्रलोभन के जैन धर्म एवं दर्शन के बहु आयामी स्वरूप को उद्-घाटित करने में आज भी निःस्वार्थ भाव से संलग्न हैं।

आशान्वित हूँ कि प्रस्तुत कृति भौतिकता की चकाचौंध में भटकी, उलझी नई पीढ़ी को समीचीन धर्म की वर्णमाला का ज्ञान कराकर सम्यग्दर्शन के साथ ही जीवन में सदाचार और सद्‌विचारों के सन्निवेश द्वारा उसे वास्तविक सुख-शाँति का मार्ग प्रशस्त करने में पूर्ण सहायक सिद्ध होगी।

जे. ई. एस. कालेज
जालना (महाराष्ट्र)
दिनांक १-५-७९

डॉ. शान्तिलाल जैन (पांड्या)
M.A. Ph.D.
(प्रकाशन संयोजक)

श्रीमद्भगवत्समन्तभद्राचार्य विरचित

रत्नकरण्ड गौरव

(१)

मंगलाचरण

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्द्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥

कर्मकलंक पंक सम धोकर
प्राप्त किया परमात्म्य महान् ।
युगपत् विश्व झलकता जिनके
ज्ञानमुकुर में बिंब समान ।
सार्वधर्म पीयूष पिलाकर
किया विश्व जनहित निष्काम,
उन विभुवर श्री वर्द्धमान प्रति
बारंबार विनम्र प्रणाम !

भावार्थ– जिन्होंने पापकर्म रूपी मलिनता को धोकर आत्मा को निर्मल-निष्कलंक बना लिया है तथा जिनके अनंत ज्ञान मयी दर्पण में अलोक सहित तीनों लोकों के परिपूर्ण पदार्थ (उनके गुण-पर्यायों सहित) प्रतिबिंबित हैं (एवं जिन्होंने प्राणिमात्र को हितकारक धर्मामृत का पान करा विश्व का हित साधन किया है) ऐसे अनंतचतुष्टयादि अंतरंग और समवशरण आदि बहिरंग श्री (लक्ष्मी) से वृद्धि की चरम सीमा को प्राप्त वीतराग, सर्वज्ञ, विश्वहितंकर परमात्मा श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के लिये नमस्कार !

पंक = कीचड़ । युगपत् = एक साथ । मुकुर = दर्पण । बिंब = परछाई पीयूष = अमृत । निष्काम = निःस्वार्थ ।

(२)

धर्म का लक्षण एवं उसके प्रतिपादन
की प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

संसृति के परिपूर्ण दुखों का
हो जाये जिससे अवसान,
कुटिल कर्म बंधन विनष्ट कर
करता जो सुख शान्ति प्रदान,
समीचीनतम उस सुधर्म की
करूँ देशना सर्वांगीण ।
यत्प्रसाद परमात्म्य लाभकर
आतम बने सुस्थिर स्वाधीन ।।

भावार्थ- जिसका परिपालन करने से कर्मों का बंधन विनष्ट हो जाता है और जो संसार के दुखी प्राणियों की परिपूर्ण आकुलताओं (दुखों) का विनाश कर उन्हें उत्तम सुख प्रदान करता है उसे धर्म कहते हैं। विश्वहितार्थ में (समन्त भद्र) उसी समीचीन धर्म के संदेश को (जो पूर्व में तीर्थंकरों द्वारा दिया जाता रहा है) यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

संसृति = संसार। अवसान = अंत, नाश। समीचीनतम = सर्वोत्कृष्ट। देशना = उपदेश। सर्वांगीण = धर्म के सम्पूर्ण अंगों सहित।

(३)

धर्म और अधर्म क्या है ?

सद्द दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः ।
यदीय प्रत्यनीकानि मवंति मव पद्धतिः ।।

समीचीन वह धर्म वस्तुतः
परम रम्य सुख शान्ति निधान
आप्त विहित है सम्यग्दर्शन-
ज्ञान और चारित्र महान ।
भ्रान्तिपूर्ण तत्वों की श्रद्धा-
ज्ञान और चरित्र मलीन
संसृति जन्य समग्र दुखों की
परिपाटी है चिरकालीन ।।

भावार्थ- धर्म के ईश्वर (वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा) द्वारा उपदिष्ट वह धर्म सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की एकता स्वरूप है। (चरित्र विहीन केवल श्रद्धा व ज्ञान एवं श्रद्धा और ज्ञान हीन चारित्र कार्यकारी नहीं होते) इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र अधर्म है जिसको अनादि काल से अपनाये हुए प्राणिवर्ग संसार परिभ्रमण कर नाना प्रकार के दुखों का पात्र बना हुआ है ।

भगवत् = परमात्मा, सच्चादेव । तत्वतः = वास्तव में । समग्र = सम्पूर्ण । स्रोत = झरना । परिपाटी = प्रथा, एक के बाद एक होने वाली (जन्म मरण की परम्परा)

(४)

सम्यग्दर्शन का लक्षण

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

परम अर्थ साधन समर्थ–
सत्यार्थ देव-गुरु-श्रुत पहिचान ।
अंग सहित, मदरहित, मूढतादिक–
विहीन करना श्रद्धान ॥
सम्यग्दर्शन सूत्रविहित है
धर्म कल्पतरु मूल प्रवीण!
जिस विन जन की भव संतति सँग
कर्म कालिमा हो नहिं क्षीण ॥

भावार्थ– मुक्ति पथ प्रदर्शक सत्यार्थ आप्त (देव) निर्ग्रंथ गुरु और वीतराग वाणी (आगम-शास्त्र) पर अष्ट अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मद (अहंकार) रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

परम अर्थ = मोक्ष । अंग = सम्यग्दर्शन के आठ अंग (१. निःशंकित २. निःकांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढ़ता ५. उपगूहन ६. स्थितिकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के अंग हैं) मूढ़ता = मूर्खता, अविवेक (१. लोक मूढ़ता २. देव मूढ़ता ३. पाखंडिमूढ़ता ये तीन मूढताएँ हैं) । मद = अहंकार (ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, धन, तप, रूप (शरीर सौन्दर्य) ये आठ मद हैं) । विहीन = रहित । कल्पतरु = कल्पवृक्ष ।

(५)

सत्यार्थ आप्त (देव) का स्वरुप

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।

देव वही जो वीतराग हो
विश्वतत्व विज्ञान निधान ।
परमागम का ईश-प्राणिहित
दें धर्मोपदेश अम्लान ।।
रागद्वेष मोहादि विकृति कर
जीवन है जिनका आक्रांत ।
उनमें नहिं परमार्थ आप्तता
रहती है संभाव्य नितांत ।।

भावार्थ– सत्यार्थ आप्त (देव) वह है जो नियम से वीतराग (निर्दोष-निष्कलंक) सर्वज्ञ (सम्पूर्ण द्रव्यों को उनके गुण पर्याप सहित प्रत्यक्ष जानने वाला) एवं आगम का ईश (हितोपदेशी) हो । इन तीन गुणों में से एक के भी न होने पर सच्चे अर्थो में आप्तता (देवत्व) संभव नहीं। (यदि देव वीतराग न होकर रागीद्वेषी या कामी क्रोधी आदि किसी भी दोष से युक्त है तो वह रागादि वश यथार्थ तत्व का उपदेश देने में समर्थ नहीं हो सकेगा और न सर्वमान्य बन कर श्रद्धा का ही पात्र बन सकेगा । उसके सर्वज्ञ न होने पर अल्पज्ञता के कारण (जो स्वयं अज्ञ है) वह दूसरों को तत्व का पूर्ण और यथार्थ ज्ञान कहाँ से करावेगा ? इसी प्रकार उसके हितोपदेशी न होने पर भी आप्तपना संभव नहीं; क्योंकि हितोपदेशी बिना उसे सत्यार्थ देव कौन जानेगा या मानेगा ? अत: आप्त में तीनों विशेषताओं का होना नितांत आवश्यक है । आप्त का यह निर्दोष एवं पक्षपात रहित लक्षण है। जिस व्यक्ति में ये तीन गुण हों वही देव हो सकता है । अन्य नहीं ।

निधान =भंडार । विकृति=विकार । आक्रांत = सना हुआ । आप्तता= देवपना । नितांत = बिल्कुल ।

(६)

वीतराग का लक्षण

क्षुत्पिपासा जरातङ्क जन्मान्तक भयस्मयाः ।
न रागद्वेष मोहाश्च यस्याप्तः स-प्रकीर्त्यते ।।

जन्म जरा भय क्षुधा तृषा मद
राग अरति दुश्चिन्ता खेद
रोग शोक विद्वेष मोह सह
विस्मय निद्रा अंतक स्वेद ।
ये दूषण सब विश्व विदित हैं
अंतरंग बहिरंग विकार
इनका विजयी आप्त पुरुष ही
वीतराग हो परम उदार ।।

भावार्थ– क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) जरा (बुढ़ापा) अंतक (रोग) जन्म, मरण, भय, आश्चर्य, राग, द्वेष, मोह, खेद, अरति, शोक, मद, निद्रा चिन्ता ये अठारह दोष जिस देव में नहीं पाये जाते वही वस्तुतःआप्त है और वही प्रशंसनीय भी है । जिसमें इनमें से कुछ भी दोष पाये जाते हैं वह हमारे समान ही दूषित होने से आप्त होने का पात्र नहीं रह जाता । पूज्यता गुणों से आती है और दोषों के कारण वह समाप्त हो जाती है । इसीलिये वह हमारी श्रद्धा का भी पात्र नहीं रहता । अतः आप्त का निर्विकार (निर्दोष) होना परमावश्यक है ।

जरा = बुढ़ापा । अरति = बेचैनी, घृणा । स्वेद = पसीना

(७)

शास्ता (हितोपदेशी) का लक्षण

परमेष्ठी परंज्योति-र्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादि मध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ।।

सर्वोत्कृष्टः इष्ट पद संस्थित,
वर अनंत विज्ञान निधान ।
जिसकी परम ज्योति में युगपत्
प्रतिभासित हो विश्व महान ।
आदि अंत बिन मध्यरहित
कृतकृत्य विमल-रागादि विहीन ।
धर्मतीर्थ प्रतिपादन कर्ता-
शास्ता कहलाता शालीन ।।

भावार्थ- जो परमात्म स्वरूप होने के कारण इन्द्रादि सभी के लिए परमइष्ट हो- मान्य हो, जो चराचर विश्व प्रकाशक ज्ञान की परम ज्योति स्वरूप हो, विरागी हो, घाति कर्म मल से रहित हो, कृतकृत्य हो, सर्वज्ञ हो, जिसकी (परंपरा या ज्ञानादि गुणों की दृष्टि से) आदि अन्त और मध्य न हो, विश्व के प्राणी मात्र का हित साधक हो वही वस्तुतः शास्ता (हितोपदेशी) कहलाने का अधिकारी हो सकता है ।

उल्लिखित गुणों के अभाव में कोई भी व्यक्ति हितोपदेशिता का अधिकारी इसलिये नहीं हो सकता कि पूज्यता, ज्ञान की विशदता और पूर्णता, वीतरागता, (निर्मलता), अनाकांक्षिता, एवं परंपरा की दृष्टि से अनादि अनंतता के अभाव में उस व्यक्ति में लोगों की श्रद्धा न हो सकेगी, और श्रद्धा के अभाव में उपदेश को ग्रहण करने वा अपनाने की भावना भी उत्पन्न न होगी, अतः हितोपदेशी में उल्लिखित विशेषताएँ आवश्यक हैं । उसमें ज्ञानादि गुणों की अनन्तता होनी ही चाहिए ।

(८)

वीतरागी हितोपदेशी कैसे हो सकता है ?

अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥

दें उपदेश धर्म का भगवन्
राग-द्वेष वा स्वार्थ विहीन ।
भेद भाव बिन जिसमें रहता
निहित 'विश्वहित' सर्वांगीण ॥
कलाकार कर संस्पर्शित हो,
जब मृदंग ध्वनि करता रम्य,
जनमन सुन हो मुदित किन्तु क्या
प्रतिफल चाहे वाद्य सुरम्य ?

भावार्थ– जैसे कलाकार (मृदंग वादक) के हाथों मधुर ध्वनि में बजता हुआ मृदंग किसी से कुछ न चाहते हुए भी सुनने वालों का चित्त प्रसन्न करता है वैसे वीतराग भगवान् का उपदेश भी बिना किसी राग और स्वार्थ के हुआ करता है। जिसके द्वारा सन्मार्ग प्रदर्शन होकर भव्य जीवों का हित सहज ही सम्पन्न हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि आप्त पुरुषों का उपदेश अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं होता और न उन्हें श्रोताओं से भी कोई राग होता । फिर भी बिना किसी इच्छा और राग के होने वाली उनकी दिव्यध्वनि द्वारा संसार के दुखी प्राणियों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होने से सबका हित सहज ही सध जाता है ।

(९)

सत्यार्थ शास्त्र की पहिचान

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम् ।
तत्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।

जिसमें हो तत्वार्थ विवेचन
निर्विरोध सर्वांग उदार ।
वीतराग वाणी ही रहती
एकमात्र जिसका आधार ।।
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी–
हो अलंघ्य, संदेह विहीन ।
कुपथ निवारक जनहितकारक
शास्त्र वही है सार्वजनीन ।।

भावार्थ– जिस शास्त्र की रचना आप्त पुरुषों की पवित्र वाणी के आधार पर हुई हो, जिसमें प्रतिपादित विषय का खंडन न किया जा सके, जिसका चर्चित विषय प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों से बाधित न हो, जिसमें जीवों को सन्मार्ग पर लगाने वाला तत्वों का उपदेश भरा हो, जिसमें समस्त प्राणियों के हितकारक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया हो तथा जो कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लगाता हो–वही शास्त्र (सच्चे अर्थों में) शास्त्र कहा गया है । इसके विपरीत रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा अपने कल्पित सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए निर्मित हुए शास्त्र, जिनके प्रतिपादित सिद्धांत खंडित किए जा सकते हैं या जिनका विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित और कल्पित हो, ऐसे कुतत्वों के प्रतिपादक, कदाचार और असद्विचार पोषक शास्त्र, कुशास्त्र ही नहीं शस्त्र हैं–जिनसे विश्व हित असंभव है ।

अलंघ्य=जिसका खंडन न हो ।

(१०)

सत्यार्थ गुरु (तपस्वी) का लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।।

विषय वासना विजयी बनकर
हों जो भवतनु भोग उदास,
हिंसारंभविहीन, परिग्रह--
भी न रंच हो जिनके पास ।।
ज्ञान ध्यान तप में रत रहकर,
कर्म कालिमा करते क्षीण,
ऐसे ज्ञानी साधु प्रवर ही
सद्गुरु पद पर हों आसीन।।

भावार्थ– जिन्हें इन्द्रियों के विषयों की निःसारता का ज्ञान हो जाने के कारण विषय भोगों की वांछा किंचित् भी न रही हो, जो हिंसा के कारण गृह के समस्त आरंभी कार्यों एवं मूर्छा के कारण परिपूर्ण परिग्रहों के त्यागी हों तथा निरन्तर ज्ञानार्जन करने कराने एवं ध्यानाभ्यास, अनशनादि द्वादश प्रकार के तप करने में निरत हों, ऐसे तपस्वी साधु पुरुष ही सच्चे गुरु (सद्गुरु) बनने और प्रशंसा पाने के अधिकारी हैं । विषयी, कषायी, आरंभी, परिग्रही ज्ञान ध्यान तप शून्य रागी द्वेषी ख्याति लाभ, पूजा के इच्छुक जन सद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित होने के अधिकारी नहीं ।

सतत=निरंतर । प्रवर=श्रेष्ठ ।

(११)

निःशंकित अंग

इदमेवेदृशं चैव तत्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकंपाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥

जिन प्रणीत तत्वों पर रुचि से
श्रद्धा करना निम्न प्रकार।
'तत्व यही वा ऐसा ही है,
अन्य नहीं-नहि अन्य प्रकार'।
खड्ग वारिवत् निश्चल, संशय -
विभ्रमादि दूषण परिहीन,
सत्यमार्ग पर सुदृढ़-सुरुचि ही
निःशंकित है अंग प्रवीण !

भावार्थ– वीतराग भगवान द्वारा प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप पर इस प्रकार श्रद्धा करना कि वस्तु का स्वरूप यही है और ऐसा ही है, अन्य नहीं है और न अन्य प्रकार ही है। इस प्रकार की सम्यक्-दृढ़ श्रद्धा को ही निःशंकित अंग कहते हैं। जैसे तलवार की धार पर चढ़ाया जाने वाला पानी अटल बना रहता (धोने पर या अग्नि में नहीं छूटता) तथा धार बनानें में सहायक होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि में तत्वों के प्रति श्रद्धा भी असंदिग्ध व निश्चल हुआ करती है। इस अंग के बल पर प्राणी मुक्ति मार्ग में निःशंक बना रह कर आत्म साधना में दृढ़ता के साथ आगे बढ़ता है। इसी से व्यक्ति चारित्र में (व्रत, तप, संयम आदि के परिपालन में) रुचि एवं उत्साह के साथ प्रवृत्ति करता है। अतः उसे सब अंगों में प्रथम स्थान दिया गया है। दृढ़ श्रद्धा के अभाव में व्यक्ति अपने मार्ग से तनिक सी भी बाधा आने पर विचलित हो जाता है। मार्ग पर दृढ़ रहने के लियें निःशंक और निर्भय होना आवश्यक है।

(१२)

निःकाँक्षित अंग

कर्म परवशे सान्ते दुःखैरंतरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणास्मृता ।।

इन्द्रिय विषय जन्य सुख क्या है ?
दुख ही है वह सर्व प्रकार ।
पूर्व-कर्म उदयाश्रित, अस्थिर,
कल्पित, पापबीज निस्सार ।।
अगणित आकुलताएँ जिस पर-
प्रतिपल करतीं तीव्र प्रहार ।
अतः न उस पर आस्था रखना,
निःकांक्षित है अंग उदार ।।

भावार्थ– इन्द्रिय विषय जन्य सांसारिक सुख की चाह न करना निःकांक्षित अंग है । विषय जन्य सुख प्रथम तो सुख ही नहीं है, फिर जिसका मिलना कर्मों के अधीन है (यदि पूर्व में पुण्य संचय किया होगा और उसका इच्छानुकूल उदय होगा तब ही वह प्राप्त होगा) यदि प्राप्त भी हो जाय तो क्षण भंगुर होने से वह स्थायी नहीं रहता, तथा जितने समय उसका अनुभव किया जाता है–अनेक प्रकार की आकुलताओं का सम्मिश्रण भी उसमें रहा करता है इससे जो निर्बाध नहीं है । इसके सिवाय जिसे मग्न होकर भोगने पर पाप का बंध भी होता है, अतः जो पाप का बीज है, इस प्रकार सब भाँति गर्हित विषय सुख की चाह न करते हुए उससे विरक्त रहने को निःकांक्षित अंग कहा जाता है । इसको अनासक्त योग भी कहते हैं । शुद्ध आत्म स्वरूप के दर्शन होने के पश्चात् विषय भोगों में आसक्ति का अभाव हो जाना अनिवार्य है, जो सम्यग्दर्शन का अंग है ।

कल्पित = कल्पना किया हुआ ।

(१३)

निर्विचिकित्सा अंग

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रते ।
निजु गुप्सा गुण प्रीति-र्मता निर्विचिकित्सिता ।।

रक्त मांस मज्जा चर्मादिक
घृणित वस्तु संक्रान्त नितांत
स्वाभाविक ही यह शरीर है-
शुचिताशून्य सतत सर्वांत ।
किन्तु रत्नत्रय भूषित जन का
कहलाता वह परम पवित्र;
अत: ग्लानि बिन धर्मी सेवा
निर्विचिकित्सा है गुण, मित्र !

भावार्थ– यद्यपि प्राणी का शरीर रक्त मांस मज्जादि मलिन वस्तुओं से निर्मित होने के कारण स्वभाव ही से अपवित्र है, किन्तु रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) से युक्त जीव का वह अपवित्र होकर भी पवित्र माना जाता है । अतः धर्मात्मा गुणी पुरुषों की (रुग्णादि दशा में) घृणा न करते हुए प्रीत्ति पूर्वक यथा योग्य सेवा करना निर्विचिकित्सा अंग है । सम्यग्दृष्टि भली भाँति जानता है कि वस्तुएँ स्वभावत: अनेक रूप परिणमन करती है; उनका कोई भी परिणमन न तो घृणा और द्वेष करने योग्य है और न राग । ऐसा जानकर वह धर्मातमा पुरुषों या अन्य दीन हीन रुग्ण दु:खी प्राणियों की (उनसे घृणा न करते हुए नि:स्वार्थ) सेवा सुश्रूषा करना और कर्मोदय से उत्पन्न दीन हीनावस्था में उनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है । वह मल मूत्रादि वस्तुओं से भी घृणा नहीं करता, यही निर्विचिकित्सा अंग है ।

संक्रान्त = भराहुआ । सर्वान्त = सब प्रकार ।

(१४)

अमूढ़दृष्टि अंग

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टि रुच्यते ॥

संसृति में सुख शान्ति न पाता,
प्राणिवर्ग जिसके आधीन -
वही कुपथ है मिथ्यादर्शन
ज्ञान और चारित्र मलीन ।
अतः कुपथ एवं कुपंथि पर
मन वच काया से श्रद्धान -
संस्तुति वा सेवादि न करना
है अमूढ़ता - अंग महान ॥

भावार्थ– जिस पथ पर आरूढ़ होकर संसार में प्राणी दुखी हो रहे हैं, वह मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है, अतः इस दुखों के मार्ग की तथा इसका अनुसरण करने वालों की मनसा, वाचा कर्मणा प्रशंसा स्तुति सेवा और सराहना नहीं करना यह अमूढ़दृष्टि अंग है । मिथ्यामार्ग की प्रशंसादि करना मूढ़ता का परिचायक है–जो कि मिथ्यादर्शन का ही अंग है । सम्यक्दृष्टि जीव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर भी उनके गुणों का विचार कर विवेक पूर्वक ही श्रद्धा एवं सेवा सुश्रूषा उपसनादि करता है । भ्रांति वश लोग प्रायः धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानकर श्रद्धान तथा अनुगमन करने लग जाते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान नेत्र खुल जाने से वह वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान करता हुआ भ्रान्त एवं मिथ्या धारणाओं का दूर से परित्याग कर सन्मार्ग को अपनाना ही अपना कर्तव्य समझता है, यही अमूढ़दृष्टि अंग है ।

कुपथ = खोटा, मिथ्यामार्ग । कुपंथि = कुमार्गगामी, खोटे रास्ते पर चलने वाला ।

(१५)

उपगूहन अंग

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्त जनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥

सत्यमार्ग जो स्वयं शुद्ध है
सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान,
सम्यक्चारित्र प्राणिमात्र हित-
साधक, शाश्वत सौख्यनिधान ।
इस सुपंथ की निंदा हो यदि -
निर्बल बाल-जनों के द्वार -
उसका परिमार्जन करना ही
उपगूहन है अंग उदार ॥

भावार्थ- यदि धर्म के मार्ग की- जो स्वयं शुद्ध है, किन्हीं बाल-अज्ञानी या उसके पालन करने में असमर्थ वृद्ध रोगी आदि जनों के आश्रय से निन्दा होती हो या होने की संभावना हो तो इस निन्दा को उचित प्रतिकार द्वारा न होने देना ही उपगूहन अंग है । मानव में अनेक प्रकार की निर्बलताएँ हुआ करती हैं - जिनके कारण कभी-कभी वह ऐसे कार्य भी कर लेता है जो उसकी और धर्म की निन्दा के कारण बन सकते हैं, ऐसी दशा में इन कार्यों को प्रकट न कर धर्म और धर्मात्माओं को निन्दा से बचा लेना एवं एकांत में (यदि संभव हो तो) प्रेमपूर्वक उनकी त्रुटियों को समझा देना, यही उपगूहन अंग है ।

परिमार्जन=निवारण (दूरीकरण) ।

(१६)

स्थितिकरण अंग

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थिति करणमुच्यते ।।

धर्मी जन यदि काम क्रोध भय
लोभ मोह वश बन दिग्भ्रांत ।
धार्मिक श्रद्धा या चरित्र से
विचलित होता दिखे नितांत ।।
सत्प्रयत्न कर धर्म मार्गच्युत–
नहि होने देना तत्काल ।
सुस्थितिकरण नाम दर्शन का
प्रतिपादित है अंग विशाल ।।

भावार्थ– किसी कारण या परिस्थिति वश यदि कोई सहधर्मी बंधु अपनी धार्मिक श्रद्धा से डिग रहा हो अथवा अपने व्रत शील संयमादि सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट होकर कुमार्गमामी बनने जा रहा हो उस समय उसे मार्ग भ्रष्ट न होने देकर जिस प्रकार भी हो सके उसकी धार्मिक श्रद्धा को शिथिल न होने देना और सदाचारी बनाए रखकर उसे चरित्र भ्रष्ट न होने देना स्थितिकरण अंग है । अनेक बन्धु धूर्तों एवं पाखंडियों के जाल में फंसकर सत्यार्थ देव गुरु धर्म की श्रद्धा से विचलित हो जाते हैं तथा काम क्रोधादि वश व्रतादि का त्याग कर पतन के मार्ग पर अग्रसर होते देखे जाते हैं, तब सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य हो जाता है कि वह उन्हें मार्गभ्रष्ट न होने दें । इस प्रकार का कर्तव्य पालन ही स्थितिकरण कहलाता है ।

दिग्भ्रांत = मार्गभ्रष्ट या विवेक हीन, कर्तव्य विमूढ़ । मार्गच्युत = भ्रष्ट प्रतिपादित = कहा गया ।

(१७)

वात्सल्य अंग

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव सनाथापेत कैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥

धर्मिजनों प्रति शुद्ध हृदय से
स्नेहमयी निश्छल व्यवहार–
यथायोग्य संपादन करना
गो-स्ववत्सवत् सहज उदार।
विपद्ग्रस्त होने पर तत्क्षण
तन मन धन से शक्ति प्रमाण-
सेवा में तत्पर हो जाना
वत्सलता है अंग प्रधान ॥

भावार्थ– अपने धर्म और धर्मात्मा बंधुओं की सानुराग निष्कपट भाव से यथायोग्य आदर, सत्कार ,विनय , सुश्रूषा, सहायता, सेवा आदि करने को सदैव तत्पर रहना वात्सल्य अंग कहा जाता है । जैसे गौ को अपने वत्स (बछड़े) के प्रति हार्दिक वात्सल्य होता है–जिससे विवश होकर वह समय आने पर अपने प्राणों को न्योछावर कर भी अपने वत्स का संरक्षण करती है, इसी प्रकार अपने धर्म बंधुओं के प्रति सम्यग्दृष्टियों को हार्दिक निष्कपट प्रेम हुआ करता है। यूं तो जीवमात्र के प्रति मैत्री भाव, दुखियों के प्रति करुणाभाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद (हर्ष) भाव और विपरीत आचरण करने वालों के प्रति माध्यस्थ भाव (न राग न द्वेष) सम्यग्दृष्टियों के सहज ही हुआ करते हैं; किन्तु मुनि आर्यिका, श्रावक, श्राविका और सामान्य सम्यग्दृष्टि ये सब मुक्तिमार्ग के अनुयायी उनके लिए अपने यूथ (संघ) के जन कहलाते हैं । जिनके प्रति उसे विशेष अनुराग रहना स्वाभाविक है । यह सम्यग्दर्शन का प्रमुख अंग है ।

गोस्ववत्सवत् = गाय का अपने बछड़े जैसा । विपद् = विपत्ति संकट ।

(१८)

प्रभावना अंग

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना ।।

व्याप रहा चहुँ ओर विश्व में,
मोह महातम निबिड़ नितांत,

जिससे हो अभिभूत जगत जन,
भटक रहे हैं वन विभ्रांत ।

सम्यक्ज्ञान किरण प्रकटाकर,
भ्रमतम का कर पर्यंवसान,

जिन शासन माहात्म्य प्रकाशन,
है प्रभावना अंग महान ।।

भावार्थ– संसार में सव ओर फैले हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को जिस प्रकार भी हो सत्यार्थ धर्म के प्रकाश द्वारा दूर कर जिनेन्द्र के उदार, निष्पक्ष और विश्वकल्याण कारक सिद्धांतों का महत्व प्रकट करना प्रभावना अंग है । संसार में प्राणि वर्ग दुःखी क्यों है और उसके दुःखों का मूल कारण क्या है, तथा वह दुःखों से किस प्रकार छुटकारा पाकर वास्तव में सुखी बन सकता है ? इस रहस्य के यथार्थ ज्ञाता विरल हैं। प्रायः लोग विषय भोगों में ही सुख की कल्पना कर उन्हें किसी प्रकार भोग लेने को ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाए हुए हैं, ऐसी दशा में वीतराग भगवान द्वारा उपदिष्ट वीतराग धर्म के स्वरूप को समझा कर प्राणियों को अपने ज्ञानानंदमयी स्वरूप का उपदेशादि द्वारा यथार्थ ज्ञान कराकर-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मार्ग पर लगा उन्हें दुःखों से छुड़ाने का प्रयत्न करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है । इस कर्तव्य निर्वाह को ही वस्तुतः प्रभावना कहते हैं ।

निविड़ = गहरा । अभिभूत = प्रभावित । पर्यंवसान = विनाश । विभ्राँत = भ्रमित होकर ।

(१९)

अंगों के प्रतिपालक प्रसिद्ध व्यक्ति

तावदञ्जन चौरोऽङ्गे ततोऽनंतमतिः स्मृता ।
उद्दायन स्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥

अर्जित किया सुयश अंगों में
जिन सुदृष्टियों ने अम्लान--
उनमें अंजन चोर प्रथम है,
महामंत्र पर कर श्रद्धान ।
भोग कामना तज अनंतमति,
उद्दायन सेवा कर धन्य ।
मूढ़दृष्टि परित्याग रेवती,
संपादन की कीर्ति अनन्य ।।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन के प्रथम निःशंकित अंग में अंजन नामक चोर ने नमस्कार मंत्र की निःशंक साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हुए अन्त में मुक्ति प्राप्त की थी। द्वितीय निःकांक्षित अंग में अनंतमती नामा श्रेष्ठिकन्या ने सांसारिक भोगों को अनेक प्रलोभनों के उपस्थित होने पर भी उन्हें विरत भाव से ठुकरा कर अखंड शील का परिपालन करते हुए ख्याति प्राप्त की थी। तृतीय निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन ने महादुर्गन्धयुक्त कोढ़ी मुनि की आहारादिक द्वारा परिपूर्ण सेवा कर ग्लानि रहित धार्मिक मनोवृत्तिका परिचय देकर निर्विचिकित्सा अंग का पालन किया था। चतुर्थ अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी प्रसिद्ध हुई--जिसे एक मायावी ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्त में तीर्थंकर का रूप धारण कर भी मूर्ख बनाने और श्रद्धा डिगाने में समर्थ नहीं हुआ।

(२०)

अंगों के परिपालन में अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥

श्रेष्ठि जिनेन्द्रभक्त यश पाया,
उपगूहन कर अंगीकार-
वारिषेण स्थितिकरण किया-
मुनि पुष्पडाल के भाव सुधार ।
अद्भुत वत्सलता दरशायी,
विश्ववंद्य मुनि विष्णुकुमार,
धर्मध्वजा फहरा प्रभावना
संपादन की वज्रकुमार ॥

भावार्थ– सम्यग्दर्शन के पंचम उपगूहन अंग में श्रेष्ठिवर्य श्री जिनेन्द्र भक्त एक धर्मात्मा के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मचारी के वेश में रहने वाले व्यक्ति के दोषों को ढक कर यशस्वी हुए थे । षष्ठम् स्थितिकरण अंग में सुप्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक बिंबसार के सुपुत्र श्री वारिषेण ने मुनि अवस्था में अपने पुराने साथी मंत्री पुत्र पुष्पडाल के विषय वासना युक्त चित्त को वासना मुक्त करने की अद्भुत युक्ति से काम लेकर सुयश प्राप्त किया था । सप्तम वात्सल्य अंग में मुनिराज श्री विष्णुकुमार ने अकंपनाचार्यादि सात सौ साधुओं की राजा बलि के षड़यंत्र से रक्षा कर महान यश प्राप्त किया था । अष्टम प्रभावना अंग में मुनि श्री वज्रकुमार ने दिवाकर नामक विद्याधर राजा द्वारा जिनेन्द्र का रथ सब से आगे निकलवा कर धर्म प्रभावना की थी ।

संपादन = भली भांति पूरा करना ।

(२१)

विकलांग सम्यग्दर्शन की असमर्थता

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म संततिम् ।
नहि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहंति विषवेदनाम् ॥

यथा व्याधि - विष पीड़ा नाशक
सफल न होता मंत्र अशुद्ध,
यदि अक्षर मात्रा विहीन हो–
मंत्र शास्त्र के नियम विरुद्ध ।
अंगहीन दर्शन भी त्यों ही,
बन रहता सामर्थ्य विहीन–
जन्म - मरण संततियाँ जिससे
हों विनष्ट नहिं चिरकालीन ॥

भावार्थ– सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि अष्ट अंगों में से यदि किसी व्यक्ति का दर्शन (श्रद्धा) किसी एक अंग से भी न्यून है तो वह संसार की परिपाटी को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता–जैसे कि अक्षर मात्रादि की कमी वाला अशुद्ध मंत्र विष की वेदना को दूर करने में असमर्थ हो जाता है । तात्पर्य यह है कि यदि सम्यग्दृष्टि में निःशंकिता नहीं है–वह यथार्थ तत्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा न कर शंकाशील बना रहता है अथवा संसार में इन्द्रिय भोगों से विरत न रहकर उनका अभिलाषी बना रहता है या रोगी बृद्ध आदि दशाग्रस्त धर्मात्मा पुरुषों की सेवा न कर उनसे घृणा करता है अथवा मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टियों की मन वचन काय से सराहना करना है और धर्मात्मा पुरुषों के गुणों से अनुराग न कर उनके दोष ही देखता व निन्दा करता है एवं धर्म मार्ग से विचलित होने वालों को सहारा दे उन्हें धर्म मार्ग में स्थिर न कर धर्म भ्रष्ट होने देता है तथा धर्म बन्धुओं से वात्सल्य भाव के स्थान पर ईर्ष्या द्वेष, या मात्सर्य करता है एवं धर्म की प्रभावना न कर ऐसे कार्य करता है जिससे जन मानस में धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाय तदि इन सब दशाओं में उसका सम्यक्त्व दूषित और विकलांग होकर निर्बल पड़ जाता है, जिससे संसार परिभ्रमण बढ़ता ही है ।

(२२)

लोकमूढ़ता

आपगा सागर स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् !
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ़ं निगद्यते ।।

सरिता सागर जल स्नान कर
धुल जायें अघ मैल समान
प्रस्तर बालु राशियों द्वारा
इष्ट कार्य हों सिद्ध महान
अग्नि दहन गिरिपतन आदि कर
मुक्ति मान तज देना प्राण-
लोकमूढ़ता है– कुरूढ़ियों
में फँस बनजाना अनजान ।।

भावार्थ– जिन-जिन लोक प्रसिद्ध रूढ़ियों के परिपालन करन में धर्म नहीं है उनमें धर्म या आत्महित समझ कर श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्ति करने को लोकमूढ़ता कहते हैं, जैसे किए हुए पापों की शुद्धि के लिये धर्म समझ नदियों या समुद्र में स्नान करना, यात्रा करते समय मार्ग में नदी पार करते समय रेत का ढेर लगाना या पत्थरों को इकट्ठा करना और इसे अपने कार्य की सिद्धि में सहायक मानना, पति की मृत्यु हो जाने पर उसकी चिता के साथ जल जाना या किसी पर्वत की शिखर से कूदकर मरना एवं इन जैसी अन्य रूढ़ियों को धर्म समझ कर पालन करना यह सब लोक-मूढ़ता है–जो सम्यग्दृष्टियों के लिये त्याज्य है । यदि नदियों में स्नान करने से पाप धुलने लगे और पत्थरों के ढेर लगाने से कार्य सिद्ध होने लगे या पति के साथ मरने से ही स्वर्ग मिलने लगे तो जीवन में फिर व्रत-तप-संयमशील आदि धर्मों का परिपालन व्यर्थ ही ठहरेगा एवं इन जैसे अविवेकपूर्ण कार्यों द्वारा ही अपने को लोग फिर पाप मुक्त कर लेंगे, जो कि संभव नहीं ।

अवसान = अंत । प्रस्तर=पत्थर। राशि=ढेर। गिरिपतन=पहाड़ से गिरना ।

(२३)

देवमूढ़ता

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेष मलीमसाः
देवता यदुपासीत् देवता-मूढ़ मुच्यते ॥

रागादिक मल कर रहता है
जिनका अंतस् मलिन नितांत,
उन देवाभासों से वर पाने
की आशा रख जो भ्रांत-
विविध भाँति आराधन करता
अपना भाग्य विधाता मान
देवमूढ़ता प्रतिपादित है
मुग्धजनों की भ्रांति महान।

भावार्थ– राग द्वेषादि से मलिन देवी देवताओं की उनसे अपने किसी कार्य सिद्धि की आशा या वर पाने की इच्छा से पूजा उपासना आदि करना देवमूढ़ता है। प्रायः संसारी मोही जीवों को इन्द्रियों के विषय भोगने में सुख प्राप्ति होगी, ऐसी श्रद्धा हुआ करती है। उसके साथ ही, सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ में पहचान भी कम ही होती है और फिर यह ज्ञान भी नहीं होता कि भगवान् या कोई देवी देवता हमारे कार्यो को बनाते बिगाड़ते हैं या नहीं ? जबकि सम्यग्दृष्टि यह भली भाँति जानता है कि इन्द्रियों के विषय भोग आत्मा को सुखी नहीं बना सकते रागी-द्वेषी देवों को वह सच्चा देव भी नहीं मानता। साथ ही यह भी समझता है कि सुख दुखादि अपने अपने पूर्वकृत कर्मो के फल हैं––जिसने जैसा किया है वैसा ही फल मिलेगा। भगवान् या देवी देवता हमारा न तो भला-बुरा करते हैं और न धन सम्पदा या सन्तान आदि ही प्रदान करते हैं। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही धनादि का लाभ और भोगोपभोग की सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। अतः वह विवेकी होने से अन्धश्रद्धा वश रागी-द्वेषी देवों की उपासना नहीं करता और न जिनेन्द्र भगवान की भी अपने सांसारिक विषय भोगों की पूर्ति या अन्य ऐहिक इष्ट कार्यो की सिद्धि के उद्देश्य से पूजा उपासना मान्यता आदि करता।

(२४)

गुरु (पाखंडि) मूढ़ता

सग्रंथारम्भ हिंसानां संसारावर्त वर्तिनाम् ।
पाखंडिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखंडि मोहनम् ॥

हिंसारंभ परिग्रह से जो
हो न वस्तुतः पूर्ण विरक्त
साधुवेश धारण कर रहता
विषय कषायों में अनुरक्त
उस संसार चक्र वर्तक की
सेवा करना या सम्मान
कहलाती पाखंडिमूढ़ता
अधः पतन का हेतु प्रधान।

भावार्थ– जो आरम्भी एवं परिग्रही होकर हिंसा के कार्यों में संलग्न हैं तथा इन्हीं कारणों से जो संसार समुद्र की भंवरों के कुचक्र में फँसे हुए हैं और जो बाहर से साधु का पवित्र वेश मात्र धारण किए हुए हैं ऐसे पाखंडियों को गुरु मानना अथवा उनकी भक्ति सेवा सत्कार पुरस्कारादि करना पाखंडिमूढ़ता है । संसार में गुरु का स्थान बहुत ही उच्च और पवित्र है–गुरु "तारण तरण जहाज" कहा जाता है–जो हिंसादि पाप कार्यों एवं विषय कषायों में संलग्न रह कर संसार समुद्र में स्वयं डूब रहा है । वह अपने शिष्यों एवं अनुयायियों को पार कैंसे लगा सकता है ? अतः सत्यार्थ गुरु की पहिचान कर ही सम्यग्दृष्टि को अपना गुरु बनाना और उनकी उपासना करना चाहिए । अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि होना ही सुनिश्चित है । (गुरु की पहिचान पूर्व में गुरु के लक्षणों में वर्णित है ।)

वस्तुतः = वास्तव में । विरक्त = उदास, विरागी ।

(२५)

मद का स्वरूप

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

मैं ज्ञानी ध्यानी महंत हूँ
ऋद्धि-सिद्धि यश कीर्ति निधान
मम कुल जाति प्रतिष्ठा, अनुपम
शूरवीरता सिंह समान ॥
एवं ज्ञान जाति कुल तप बल
तन धन यौवन का कर मान
गर्वित होने को मद कहते
गणधरादि आचार्य महान ।

भावार्थ– अपने ज्ञान का, प्रतिष्ठा, उच्चकुल एवं जाति का, शारीरिक बल का, धनवान और तपस्वी होने का, तथा अपने शारीरिक सौन्दर्य का आश्रय लेकर मन में गर्वित होकर इतराने तथा दूसरों को तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करने को मद कहते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मभिन्न धनादि जड़ वस्तुओं एवं पुण्य कर्माश्रित उच्च कुलादि को प्राप्त कर भी इनसे अपनी उच्चता न मानते हुए गुणों के विकास में ही गौरव समझता है तथा गुणी पुरुषों में स्वभावतः नम्रता एवं विनय भाव ही उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा व मान सम्मान के कारण हुआ करते हैं, जबकि अभिमानी का अहंकार उसके प्रति घृणा और तिरस्कार का। भले ही उस व्यक्ति के बलवान होने से लोग उसकी मुँह पर प्रशंसा और चापलूसी करें; किन्तु मन में उसे दुष्ट और नीच ही समझते हैं, जिससे उसके प्रति मन में हीनता और अनादर की भावना ही रहा करती है। अतः अभिमान करना मूर्खता और मिथ्यात्व है–ऐसा समझकर सम्यक्दृष्टि मद नहीं करता।

(२६)

मद (गर्व) करने का दुष्परिणाम

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थानगर्विताशयः।
सोऽत्येतिधर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।

अहंकार में चूर मूढ़ जो
कर मलीन मद मदिरापान
धर्मिजनों का करता किंचित्
तिरस्कार. निंदा अपमान ।
वह स्वधर्म का ही करता है
तिरस्कार निश्चित मतिभ्रांत
यतः न धर्मी बिना धर्म का
रहता है अस्तित्व नितांत ।

भावार्थ–धर्मात्मा होकर भी यदि कोई व्यक्ति अपने अन्य धर्म-बन्धुओं का अहंकार वश तिरस्कार या अपमान करता है तो वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है, क्योंकि धर्म की स्थिति धर्मात्मा पुरुषों के सिवाय अन्यत्र नहीं पाई जाती । अतः धर्मात्मा का तिरस्कार धर्म का ही तिरस्कार है । सम्यग्दृष्टि सज्जन पुरुष सहधर्मियों से प्रेम और वात्सल्यभाव रख कर उनका यथा योग्य आदर सम्मान करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं एवं समस्त जीवों में मैत्रीभाव रखने के कारण वे किसी से भी द्वेष या घृणा नहीं करते–फिर धर्मात्माओं के प्रति दुर्व्यवहार करने की बात तो दूर रह जाती है । अतः सम्यग्दृष्टियों में अहंकार की भावना नहीं रहती – वे स्वभावतः नम्र और सरल होते हैं । यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो पर वस्तुओं में अहंकार एवं ममकार का अभावपूर्वक ही स्वानुभूति हुआ करती है जो सम्यक्त्व का साक्षात् प्रतीक है, अतः सम्यग्दृष्टियों में इस प्रकार के मद (अहंकार) का अभाव ही होता है ।

अस्तित्व = सत्ता, मौजूदगी ।

(२७)

मद करना मूर्खता – अतएव व्यर्थ है

यदि पाप निरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्त्रवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनम् ।।

पापास्रव अवरुद्ध हुआ यदि,
जो है मंगल मूल महान ।
प्राणी को फिर अन्य सम्पदा,
रहती कौन प्रयोजन वान् ?
यदि पापास्रव रुद्ध हुआ नहिं,
तब क्या हो उसका परिणाम ?
अधःपतन नरकादि गमन, फिर–
जड़ संपद् आये क्या काम ?

भावार्थ– मान कषाय वश मदोन्मत्त होकर मनुष्य अनेक कुकर्मों द्वारा पापास्त्रव करता है, और पाप के फल स्वरूप दुर्गति एवं तिरस्कार का पात्र होता है। अतः यदि मान कषाय द्वारा पापास्रव हो रहा है तो अन्य धनादि विभूतियाँ दुर्गति से रक्षा करने में असमर्थ होने से निष्प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। अतः उनसे अपनें को बड़ा मान कर गर्व करना व्यर्थ है। यदि व्यक्ति विनम्र और सरल भाव से रहकर पापों का आस्रव रोक देता है- पाप नहीं करता तो पाप न करने से उच्च पदासीन होकर लोक में प्रतिष्ठा का पात्र होगा ही। इसके लिए भी अन्य सम्पत्तियाँ निष्प्रयोजन हैं,, ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि पुरुष धनादि का अहंकार नहीं करते।

अवरुद्ध = संवर, रुकावट। पापास्रव = पाप का आना, ।

(२८)

सम्यग्दृष्टि चांडाल भी महान है

सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंग देहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम् ।।

सम्यग्दर्शन सुसंपन्न यदि
वंशज हो चांडाल नितांत
उस कुलहीन व्यक्ति को भी प्रभु–
कहें–देव है यह संभ्रांत ।
अंतरात्म दर्शन विशुद्धि कर
जिसका है प्रस्फुरित महान् ।
मलिन, देह में आतम दमकती
भस्माच्छादित वन्हि समान ।।

भावार्थ– जिसकी अंतरात्मा में सम्यग्दर्शन का उद्भव हुआ है वह चांडाल की देह से उत्पन्न मानव भी देव है–पवित्र है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । यत: उसकी आत्मा भस्म से आच्छादित अग्नि के समान भीतर से प्रकाशमान है । तात्पर्य यह है कि महानता का संबंध शरीर, कुल और जाति से न होकर गुणों से है । कहीं भी उत्पन्न हुआ कोई भी व्यक्ति गुणों का संपादन कर महान बन सकता है । यह अकाट्य सत्य है । कुलों जातियों एवं इस मानव देह की महानता भी गुणों से ही मानी गई है । अत: गणधरादि देवों ने सम्यग्दर्शन से विशुद्ध चांडाल को भी देव कह कर संबोधित किया है ।

(२९)

धर्म और अधर्म सेवन का परिणाम

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म किल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

पाता है देवत्व नियम से–
धर्माश्रय लेवे यदि श्वान ।
किन्तु देव भी पापाश्रय लें
श्वान योनि पाता अति म्लान ।
क्या कोई सम्पत्ति विश्व में
संभव है सद्धर्म समान ?
स्वर्ग मुक्ति सुख संपादित हो
यत्प्रसाद स्वयमेव महान ॥

भावार्थ– धर्म के प्रभाव से श्वान (कुत्ता) भी देव हो जाता है, जब कि पाप करने वाला देव भी मर कर श्वान योनि में उत्पन्न होकर दुख और तिस्कार का पात्र बनता है। धर्म की महानता का प्रदर्शन करते हुए आचार्य प्रश्न करते हैं कि क्या प्राणियों को संसार में धर्म से बढ़कर कोई अन्य संपत्ति हो सकती है ? (कदापि नहीं)

देवत्व = देवपना । श्वान = कुत्ता । अतिम्लान = बहुत गंदी ।

(३०)

सम्यग्दृष्टि को निषिद्ध कार्य

भयाशा स्नेह लोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्ध दृष्टयः ॥

निर्मल है दृङ् मूढ़तादि बिन
जिन सुदृष्टियों का अभिराम ।

उन्हें विवर्जित है कुदेव वा
कुगुरु आदि प्रति विनय प्रणाम,

आशा स्नेह लोभ या भय वश
पूज्य मान नहिं दे सम्मान ।

यह सुदृष्टि कर्त्तव्य विहित है–
जिन शासन में सूत्र प्रमाण ।

भावार्थ– विशुद्ध सम्यग्दृष्टियों को चाहिये कि वे रागी द्वेषी मायावी देवों, एकांत दृष्टि परक विषय कषाय एवं पापवासना पोषक शास्त्रों एवं परिग्रही गुरु संज्ञक पाखंडियो को किसी भय से, कार्य सिद्धि की आशा से, स्नेह से या लोभ के वश होकर प्रणाम विनय आदि न करें। प्रायः उल्लिखित कारणों से मानव हेयोपादेय का विवेक खो बैठता है एवं लक्ष्य भ्रष्ट होकर पाखंडियों के कुचक्र में फँस जाता है, किन्तु क्षणिक प्रलोभनों के वश अपने लक्ष्य और मार्ग से भ्रष्ट हो जाना व्यक्ति की निर्बलता को ही सूचित करता है; जबकि अनेक विघ्न बाधाओं वा प्रलोभनों के होते हुए भी मार्ग भ्रष्ट न हो कर उन पर विजय प्राप्त करते हुए लक्ष्य की ओर अग्रसर होते जाने में ही सफलता संभव है। अतः सम्यग्दृष्टियों को लक्ष्य भ्रष्ट न होना चाहिये।

वर्ज्य = त्यागने योग्य। सुदृष्टि = सम्यग्दृष्टि। सूत्र = जिनवाणी।

(३१)

सम्यग्दर्शन की प्रधानता

दर्शनं ज्ञान चारित्रान्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥

ज्ञान चरित से पूर्व सुदर्शन
है आराधनीय सहमान ।
करता है जो मुक्ति मार्ग में
असंदिग्ध नेतृत्व प्रदान ॥
कर्णधार ज्यों पार लगाता,
जल में विपद्ग्रस्त जलयान ।
भवसागर से पार उतारे
भव्यों को त्यों दृढ़ श्रद्धान ॥

भावार्थ– मुमुक्षुओं को ज्ञान की आराधना और चारित्र की साधना पूर्वक मुक्तिमार्ग में अग्रसर होने के पूर्व सम्यग्दर्शन की सविशेष उपासना कर सम्यग्दृष्टि बनने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन का मुक्ति मार्ग में वही स्थान है जो जहाज को पार लगाने में कर्णधार (खेवट) का होता है। सब कुछ होते हुए भी यदि जहाज में कर्णधार न हो तो वह किनारे नहीं लग पाता उसी प्रकार साधक में यदि यथार्थ श्रद्धा का (देव शास्त्र गुरु एवं आत्मा आदि तत्वों में आस्था का) अभाव है तो उसका बेड़ा भवसागर से पार नहीं हो सकता ।

सुदर्शन = सम्यग्दर्शन । आराधनीय = उपासना करने योग्य । सहमान = आदरपूर्वक । असंदिग्ध = सन्देह रहित । विपद्ग्रस्त = संकट में फँसा हुआ । जलयान = नौका, नाव ।

(३२)

सम्यग्दर्शन की प्रधानता का कारण

विद्यावृत्तस्य संभूति स्थिति बृद्धि फलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ।।

बीज बिना ज्यों वृक्ष अवनि पर
नहिं कदापि होता उत्पन्न,
सुस्थिति - बृद्धि फलोदय उससे
फिर कैसे होंगे निष्पन्न ?
त्यों यथार्थ श्रद्धान बिना नहिं
सम्यक्ज्ञान चरित अम्लान,
हों उत्पन्न न सुस्थिर रहते
वा न मुक्ति फल करैं प्रदान ।।

भावार्थ– जैसे बीज बिना वृक्ष उत्पन्न नहीं होत। वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान ओंर चारित्र की भी न तो उत्पत्ति होती, न स्थिति रहती, न वृद्धि होती और न उससे यथेष्ट फल की प्राप्ति ही होती । क्यों नहीं होती ? इसलिए कि सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव संसार की मोह माया में फँसा रह कर इन्द्रियों के विषयों में ही सुख की कल्पना किये रहता है और तत्वों के स्वरूप को यथार्थ में न तो समझता है और न जानता है, इसीलिये अपनी विपरीत मान्यता के कारण आत्म-भिन्न पर वस्तुओं के भोग में ही सुखी बनने के प्रयत्न स्वरूप मिथ्या आचरण किया करता है, अतः उसके ज्ञान में समीचीनता और चारित्र में यथार्थता भी नहीं आती । जबकि सम्यग्दृष्टि जीव का दृष्टिकोण बदल जाने से उसके ज्ञान में स्व पर तत्व का विवेक प्रगट हो जाता है एवं चारित्र भी विषय कषायों से विरक्तिपूर्वक आत्मानुभूति के साधक व्रत-शील-संयम आदि की ओर अग्रसर होते हुए स्वरूपाचरण की स्थिति को प्राप्त होने लगता है-। अतः सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए ।

(३३)

सम्यग्दृष्टि (निर्मोही) गृहस्थ

भी वस्तुतः मुक्ति मार्ग का अनुगामी है ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

यदि जन दृष्टिमोह विरहित हो,
किन्तु न तज पाये गृहवास,
तब भी मुक्तिमार्ग संस्थित है,
नहिं मोही मुनि,कर वनवास ।
मोही मुनि से अतः श्रेष्ठ है
निर्मोही सागार प्रवीण ।
मात्र वेश नहिं श्रेयस्कर है
हो यदि सम्यग्दृष्टि विहीन ॥

भावार्थ– गृहस्थ होकर भी यदि व्यक्ति निर्मोह–(दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टि) है तो वह मोक्ष मार्ग का अनुगामी है, क्योंकि वह संसार और उसके भोगों से उदासीन रहता हुआ अपना लक्ष्य आत्मशुद्धि (मुक्ति) का बना लेता है) किन्तु मुनि वनवास करते भी यदि मोही है (मिथ्यादृष्टि के कारण संसार के माया जाल में और ख्याति लाभ पूजादि में जिसका चित्त उलझा हुआ है) तो वह मुक्ति मार्गी नहीं है । अतः मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि से निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ कल्याण का पात्र है । इससे सम्यग्दर्शन का महत्व स्पष्ट है ।

(३४)

जीवों का कल्याण सम्यक्त्व में निहित है।

न सम्यक्त्व समं किंचित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

ऊर्ध्व मध्य पाताल कहीं भी
गुण वरिष्ठ सम्यक्त्व समान–
होगा, हुआ, न है श्रेयस्कर
जीवों को जिन सूत्र प्रमाण।
त्यों मिथ्यात्व समान शत्रु भी
अन्य नहीं है चिरकालीन–
यत्प्रसाद दुख दैन्य ग्रसित हो
भटक रहे बेचारे दीन ॥

भावार्थ– भूत, भविष्यत, वर्तमानकाल एवं ऊर्ध्व, मध्य, पाताल तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान जीवों को अन्य कोई श्रेय (कल्याणकारी) और मिथ्यात्व के समान अहितकारी नहीं है। अनादि काल से संसार में यह जीव मोह ग्रस्त (मिथ्यादृष्टि) बना हुआ इन्द्रिय भोगों और विषय कषायों में सुख मानता और उनकी पूर्ति करता हुआ भी आज, तक सुखी नहीं बन सका, प्रत्युत् अधिकाधिक आकुल व्याकुल ही बना रहा, जब कि सम्यग्दृष्टि का मोह दूर हो जाने से वह तत्काल निराकुलता का अनुभव करने लगता है, अतः सम्यग्दर्शन ही जीव का वस्तुतः परम मित्र है। और मिथ्यात्व परम शत्रु है।

वरिष्ठ = श्रेष्ठ। श्रेयस्कर = कल्याणकारक। यतः = जिस कारण। भ्रमलीन = मोह ग्रसित।

(३५)

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन शुद्धाः नारक तिर्यङ् नपुंसक स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।

सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है,
अंतरात्म जिनका निर्भ्रांत,
वे न व्रती बन सकें तदपि नहिं
हों नारी न नपुंसक क्लान्त ।
दीन, दुखी, कुलहीन, नारकी,
विकलत्रय, पशु या विकलांग
स्वल्प-आयु, दारिद्रय-प्रपीड़ित
रुग्ण आदि भी नहिं सर्वांग ।।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि जीव यदि व्रतों का पालन न भी कर सके (अव्रती भी हो) तथापि मर कर नरक, तिर्यक् योनि में, नपुंसकों और स्त्रियों में, उत्पन्न नहीं होगा : कलंकित (हीन) कुल में, विकलांग (-अंधा, लूला, लंगड़ा, काना, कुबड़ा आदि) अल्पायु वाला और दीन दरिद्री आदि भी नहीं हुआ करता ; क्योंकि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से बहुशः अशुभ भावों की निवृत्ति एवं शुभ भावों में प्रवृत्ति होने से अशुभ कर्मों का बंध न होकर प्रायः शुभ कर्मो का बंध होने लगता है। जिसके फलस्वरुप संसार मे होने वाली दुर्गतियों से वह सुरक्षित रहता है।

क्लांत = दुःखी । विकलत्रय = दो, तीन तथा चार इंद्रिय जीव । विकलांग = अंगहीन, (लूला, अंधा, काना आदि) । रुग्ण = रोगी । दारिद्रय पीड़ित = निर्धनता से दुःखी ।

(३६)

सम्यग्दृष्टि मानव योनि में उत्तम मनुष्य होता है।

ओजस्तेजो विद्या वीर्यं यशोवृद्धि विजय विभव सनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥

जब सुदृष्टि मानव कुल पाता,
दिपै जनों में तिलक समान
बन विद्या बल ऋद्धि पराक्रम
ओज तेज यश कीर्ति निधान ।
शौर्य विजय सौन्दर्य प्रतिष्ठा–
हों प्रसन्न जिसमें करवास,
सेवा में सर्वार्थ – सिद्धियाँ
रहतीं जिसके बिना प्रयास ॥

भावार्थ– जो जीव सम्यग्दर्शन से पवित्र हो जाते हैं वे पराक्रमी, तेजस्वी, प्रज्ञावान, शक्ति सम्पन्न, यशस्वी, उन्नतिशील, जयशील एवं महान वैभवशाली हुआ करते हैं। वे महाकुल में जन्म लेते हैं और वहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों का सेवन करते हुए मानव कुल में तिलक समान शोभा को प्राप्त होते हैं।

ओज = कांति।

(३७)

सम्ययग्दृष्टि स्वर्ग में भी उत्तमदेव ही होते हैं –

अष्टगुण पुष्टि तुष्टा दृष्टि विशिष्टाः प्रकृष्ट शोमा जुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ।।

अणिमा महिमादिक महर्द्धियों–
की सुपुष्टि से तुष्ट महान–
अमरपुरी में दिव्य शरीरी–
बन विशिष्ट सौन्दर्य निधान ।
सुर – सुरांगना परिषद में वे
क्रीड़ा करते नित्य नवीन–
सम्यग्दृष्टि सुधी जिनवर की–
भक्ति प्रसाद सहज शालीन ।।

भावार्थ– जिनेन्द्र भगवान की भक्ति के प्रसाद स सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में अत्यन्त शोभा (सौन्दर्य) से संयुक्त एवं अणिमा महिमादि ऋद्धियों की पूर्णता से संतुष्ट होकर देव देवांगनाओं की सभा में चिरकाल तक दिव्य भोगोपभोगों को भोगते एवं सानद क्रीड़ाएँ करते हुए अपनी आयु का दीर्घ काल व्यतीत करते हैं ।

अणिमादि अष्टगुण (आठ ऋद्धियां) निम्न प्रकार हैं :–
(१) अणिमा ( ) महिमा (३) लघिमा (४) गरिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) ईशित्व (८) वशित्व ।

अणिमा– अपने शरीर को सूक्ष्म [अदृश्य] बना लेना । बाँस के छिद्र में प्रवेशकर चक्रवर्ती के परिवार की विभूतियों का सर्जन कर लेना ।

महिमा– अपने शरीर को इच्छानुसार चाहे जितना बढ़ा लेना ।

लघिमा–भारहीन बन जाना ।

(३८)

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती सम्राट् भी होते हैं

नवनिधि सप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वं भूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥

नवनिधि, रत्न चतुर्दश एवं
वर विभूतियाँ अपरंपार–
सार्वभौम स्वामित्व युक्त पा
वे ही सम्यग्दृष्टि उदार-
चक्र-प्रवर्तन में समर्थ हों
अतुल शौर्य सामर्थ्य निधान–
भूपतियों के मौलि शिखर पर
शोभें जिनके चरण महान ।

भावार्थ– (देव पर्याय के समाप्त हो जाने पर) निर्मल सम्यक्त्व युक्त जीव नवनिधि (नव प्रकार की वस्तुओं के अक्षय भंडार) एवं चौदह प्रकार के सर्वोत्तम रत्नों का स्वामित्व प्राप्त कर षट्खंड (एक आर्य और पांच म्लेच्छ खंड) पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट हुआ करते हैं– जिनके चरणों में राजाओं के झुके हुए मुकुट सुशोभित होते हैं ।

सार्वभौम स्वामित्व=सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य । मौलिशिखर=मुकुटों के ऊपरी भाग ।

(३९)

सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं

अमरासुरनरपतिभिर्यमधर पतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्टया सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥

तत्वार्थों पर दृढ़ श्रद्धा से
धर्मचक्र धर वही प्रवीण
अखिल विश्व को शरणभूत हों
धर्मामृत बरसा अमलीन।
जिसके चरणों में झुकते हैं
सुरनरेन्द्र धरणीन्द्र महान।
गणधरादि आचार्य प्रवर भी
गा न थकें जिनका गुणगान॥

भावार्थ– जिनके चरणों की इन्द्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती एवं गणधरादि महान आचार्य भी पूजा और सेवा कर अपने भाग्य की सराहना करते हैं और तीनों लोकों के समस्त जीवों के जो शरणभूत होते हैं ऐसे महान धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर भी (दर्शन विशुद्धयादि षोडस भावनाओं के द्वारा) तत्वों में दृढ़ प्रतीति कर सम्यग्दृष्टि ही हुआ करते हैं।

(४०)

अन्त में मुक्तिपद भी वही प्राप्त करते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकमयशङ्कम्।
काष्ठागत सुख विद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ।।

सद्दर्शन की शरण ग्रहण कर
पुनि सुदृष्टि पाते निर्वाण–
प्राप्त जहाँ हो अतुल अतीन्द्रिय
अमित सौख्य-विज्ञान निधान,
जन्म जरा भय मरण व्याधि दुख,
रोग शोक संताप विहीन
विश्व वंद्य परमात्म्य लाभ कर
आतम बने सुस्थिर स्वाधीन

भावार्थ– सम्यग्दर्शन की शरण लेने वाले सम्यग्दृष्टि जीव ही अंत में निर्वाण पद प्राप्त करते हैं–जो जरा, रोग, विनाश और बाधाओं से रहित है तथा जहाँ शोक भय और शंकाओं को रंचमात्र भी स्थान नहीं हैं एवं सुख और ज्ञान का विभव जहाँ पराकाष्ठा को (चरमसीमा को) प्राप्त है।

अतीन्द्रिय = आत्मिक, इन्द्रियों के विषयो से रहित। अतुल = अनुपम।

(४१)

उपसंहार

देवेन्द्रचक्रमहिमान ममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृत सर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति रुपैतिभव्यः ।।

महामहिम देवेन्द्रचक्र की
वर विभूतियाँ अपरंपार–
नृपति वंद्य राजेन्द्रचक्र सह
संपादन कर सहज उदार
धर्मचक्र धर पुनि श्रेयस्कर
बन सुदृष्टि जगवंद्य महान
श्री जिनभक्ति प्रसाद अन्त में
पाता पावन पद निर्वाण ।

भावार्थ– सारांश यह कि देवेन्द्र के अपरिमित ऐश्वर्य, नृपतिवंद्य चक्रवर्ति के असीम वैभव एवं जिनके चरणों में समस्त लोक नम्रीभूत होता है ऐसे धर्मचक्र धारक विश्ववंद्य तीर्थंकर के पवित्र पदों को प्राप्त होता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्त में निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ।

इति प्रथमोऽध्यायः

महामहिम=जिसकी महिमा अपरंपार है ।

द्वितीयोऽध्यायः

(४२)

सम्यक्ज्ञान का स्वरुप

अन्यूनमनातिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात् ।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।

हीनाधिकता रहित यथावत्
संशय विभ्रम मोह विहीन,
वस्तु स्वरूप विभासन सम्यक्-
ज्ञान कहा गणराज प्रवीण ।
वह सुदृष्टि संपादन करता-
आप्त विहित आगम-अनुसार
प्रथम करण वा चरण द्रव्य-
इन चार प्रमख अनुयोगों द्वार ।।

भावार्थ– वस्तु के स्वरूप को कमी रहित, अधिकता, विपरीतता एवं संदेह रहित, तथ्य सहित (जैसा वह है वैसा ही) जानने को गणधरादि आचार्य सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यदि वस्तु स्वरूप से जैसी और जितनी है उसको उतना और वैसा ही न जानकर कम ज्यादा या तथ्यहीन जाना जाता है, अथवा जो विशेषताएँ उसमें नहीं है, उन्हें भी उसी की मान लिया जाता है, या जैसी वह है उसके ठीक विपरीत उसे जाना जाता है अथवा उसके यथार्थ स्वरूप में संदेह किया जाता है तो ऐसा दूषित ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता ।

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस भाँति आगम (आप्त-सच्चे देव का उपदेश) चार अनुयोगों में विषय भेद से विभाजित है जिसके अभ्यास से सम्यग्दृष्टि का ज्ञान निर्मल होता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है ।

(४३)

प्रथमानुयोग का लक्षण

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥

धर्म अर्थ सह काम मोक्ष-
पुरुषार्थ प्रवर वा चरित, पुराण,
पुण्य कथा, प्रख्यात शलाका-
पुरुषों के पावन आख्यान,
बोधि समाधि स्वरूप धर्म का-
दिग्दर्शक आदर्श समान-
श्रुत प्रथमानुयोग है जिसको
जाने सम्यक्ज्ञान प्रमाण ॥

भावार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों तथा इनके साधन करने वालों की कथाएँ, महापुरुषों के जीवन चरित्र, त्रेषठ शलाका पुरुषों के आदर्श पुराण तथा पुण्य संबर्द्धक आख्यान (जीवन वृत्तांत) और बोधि-सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति व समाधि-सम्यग्दर्शनादि गुणों की पूर्णता के उपाय का जिन शास्त्रों में वर्णन हो व प्रथमानुयोग के शास्त्र कहलाते हैं-जिन्हें सम्यक्ज्ञान जानता है ।

संसार के विषय कषायों में निमग्न मोही जीव अपनी अज्ञान दशा में तीर्थंकरादि महान पुरुषों के जीवन द्वारा धर्म और उसके फल से भलीभाँति परिचित होकर अपने कर्तव्य को पहिचानता व पापों का परिमार्जन कर धार्मिक रुचि एवं प्रवृत्ति में तत्पर होने लगता है । प्रायः धर्मात्मा महान पुरुषों के पवित्र जीवन वृत्तांत सर्व साधारण में उन जैसा महान बनने की प्रेरणा एवं भावना उत्पन्न कर आत्मा के उत्थान में परम सहायक होते हैं, अतः सर्वसाधारण जनों के कल्याण की दृष्टि से प्रथमानुयोग का बड़ा महत्व है ।

(४४)

करणानुयोग का स्वरूप

लोकालोक विभक्तेर्युग परिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥

युग परिवर्तन किस विधि होता
सुख दुख हानि बृद्धि के द्वार,
लोकालोक व्यवस्था शाश्वत-
है उपलब्ध विना कर्त्तार ।
स्वर्ग, नरक, नर, तिर्यग् गतिगत-
आयु काय, बल सूत्र प्रमाण-
श्रुत करणानुयोग दरशाकर-
करता सम्यक्ज्ञान प्रदान ॥

भावार्थ– लोक और अलोक के रूप में यह विशाल विश्व किस प्रकार विभाजित है. तथा इसके किन-किन क्षेत्रों में सुख दुखादि की हानि वृद्धि द्वारा किसकिस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं तथा मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक गतियों का क्या स्वरूप है और इनमें जीवों की आयु काय वल सुख दुखादि कर्मोदय द्वारा हीनाधिक किस मात्रा में हुआ करते हैं। इन सव बातों का स्पष्ट विवेचन करणानुयोग के शास्त्रों में हुआ करता है जिसे सम्यक्ज्ञान भलीभाँति जानता है ।

युग के दो प्रकार हैं–(१) उत्सर्पिणी (उन्नति का युग) (२) अवसर्पिणी (अवनति का युग) । उन्नति के युग में भौतिक सुख और उसके भौतिक साधनों में वृद्धि हुआ करती है जो छः कालों में विभाजित है– (१) दुखम दुखम (२) दुखम (३) दुखम सुखम (४) सुखम-दुखम (५) सुखम (६) सुखम सुखम । अवनति के युग में सुख की हानि एवं दुख और उसके साधनों की बृद्धि हुआ करती है, यह भी छह कालों में विभाजित हैं–(१) सुखम सुखम (२) सुखम (३) सुखम-दुखम (४) दुखम सुखम (५) दुखम (६) दुखम दुखम । वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचम दुखम काल प्रवर्त रहा है जिसमें दिनों दिन दुखों की बृद्धि होती देखी जाती है ।

(४५)

चरणानुयोग का लक्षण

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिर्वृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोग समयं सम्यक्ज्ञानं विजानाति ।।

जीवन में किस भाँति उदित हो
मुनि श्रावक चारित्र, महान,
संरक्षण संबर्द्धन पा पुनि
करता बृहद्विश्व कल्याण ?
श्रुत चरणानुयोग दरशाता -
चारित्रिक विधि नियम प्रमाण
जिसे जान ज्ञानीजन करते
राग द्वेष का पर्यवसान ।।

भावार्थ-- जिसमें गृहस्थों एवं साधुओं के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एवं संरक्षण के नियमों का भली भाँति वर्णन होता है उसे चरणानुयोग कहते हैं । सम्यक्ज्ञानी इसे भली भांति जानता है ।

चरणानुयोग में गृहस्थों के मूलगुणों अणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रतों तथा श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का एवं व्रतों के अतीचारों का भली-भांति प्रतिपादन होता है और साधुओं के २८; मूलगुणों, चौरासी लाख उत्तरगुणों, समाधिमरण की विधि तथा तप, शील, संयमादि रूप सम्पूर्ण आचार विचारों का संक्षेप और विस्तार के साथ वर्णन होता है ।

(४६)

द्रव्यानुयोग का लक्षण

जोवाजीव सुतत्वे पुण्यापुण्ये च बंध मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुत-विद्यालोक मातनुते ॥

जीवाजीव पुण्य पापास्त्रव
बंध मोक्ष हैं तत्व प्रधान-
परम प्रयोजन सिद्धि हेतु है-
इन सबका सम्यक्परिज्ञान ।
दीपक सम द्रव्यानुयोग श्रुत
दरशाकर जिन सूत्र प्रमाण-
विमल ज्ञान की ज्योति जगाता
भ्रम तम का कर पर्यवसान ॥

भावार्थ– जिन शास्त्रों में जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप इन नव तत्वों का वर्णन पाया जाता है। उन्हें द्रव्यानुयोग का शास्त्र कहते हैं। जिस प्रकार दीपक से अन्धकार विलीन हो जाता हैं उसी प्रकार द्रव्यानुयोग के पठन पाठन से आत्मा का स्व-पर तत्व विषयक अज्ञान दूर होकर उनका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है जिससे कि आत्म कल्याण संभव है।

तृतीयोऽध्यायः

(४७)

चारित्र धारण करने की आवश्यकता

मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानः ।
राग द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥

अंतरात्म से मोह तिमिर के
हो जाने पर अन्तर्द्धान–
सद्दर्शन से सुसंपन्न बन
भव्य प्राप्त करता संज्ञान ।
किन्तु शेष रह जायें फिर भी
राग द्वेष परणतियाँ म्लान–
जिन्हें निवारण हेतु साधुजन
आदरते चारित्र महान ॥

भावार्थ– दर्शनमोह (तात्विक भ्रम) रूपी अन्धकार के विलीन हो जाने से निष्पन्न हुए सम्यक्दर्शन के प्रकाश में प्राप्त हुआ है सम्यक्ज्ञान जिसको ऐसा साधक ज्ञानी पुरुष राग द्वेषमयी अपने चिर शत्रुओं का विनाश करने के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करता है ।

बिना चारित्र के केवल तत्व श्रद्धान और ज्ञान मात्र से राग द्वेष का विनाश संभव नहीं है । देव, नारकी तथा तिर्यंचों को भी सम्यक्दर्शन और ज्ञान का हो जाना संभव हैं, किन्तु वे सम्यक्चारित्र को धारण करने की योग्यता न रखने के कारण राग द्वेष की निवृत्ति नही कर पाते । मनुष्य भव में ही चारित्र धारण करने की योग्यता प्राप्त होती है अर्थात् केवल मनुष्य ही व्रत शील संयमादि व्यवहार चारित्र पूर्वक आत्मलीनता स्वरूप निश्चय चारित्र को आत्मसात् कर सकता है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है । अतः राग द्वेष की निवृत्ति के लिए ज्ञानी मनुष्यों को चारित्र धारण करना अनिवार्य है ।

(४८)

राग द्वेष की निवृत्ति से पापों की विनिवृत्ति

रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादि निवर्त्तना कृता भवति ,
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥

राग द्वेष संज्ञक प्रवृत्तियाँ
होती जब जीवन में क्षीण–
पाप निवृत्ति तदा संपादित
हो जाती स्वयमेव, प्रवीण !
धन समृद्धि की चाह न हो तो
भूपति की सेवा कर मौन–
दास वृत्ति अपना कर रुचि से
मानव मूर्ख बनेगा कौन ?

भावार्थ–राग द्वेष के दूर हो जाने पर हिंसादि पापों से निवृत्ति स्वयं हो जाती है (क्योंकि पापों में प्रवृत्ति रागादि आंतरिक विकारों के द्वारा ही हुआ करती है) जैसे जिस पुरुष को धनादि की कामना हुआ करती है वही अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु राजा आदि धनी पुरुषों की सेवा में प्रवृत्त होता है । बिना धन की चाह के ऐसा कौन विवेकी पुरूष होगा जो किसी की सेवा करना स्वीकार करेगा ? इसी प्रकार अन्तरंग में राग द्वेष के अभाव में हिंसादि पाप भी कौन और क्यों करेगा ?

(४९)

सम्यक्चारित्र

हिंसाऽनृत चौर्येभ्यो मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥

हिंसा अनृत परिग्रह मैथुन, चौर्य पाप हैं पंच प्रधान ।
अंतस् में इन से विरक्ति है ज्ञानी का चारित्र विधान ॥
पापों का परिहार किये कृश-हो जायें रागादि विकार ।
अतः पाप परिहार स्वयं में राग द्वेष का है परिहार ॥

भावार्थ– हिंसा असत्य (झूठ) चौर्य (चोरी) मैथुन (कुशील) और परिग्रह इन पाँच पापों की प्रणालियों से विरक्त हो जाना-इनका त्याग करना सम्यक्ज्ञानी का चारित्र कहा गया है। पंच पापों से विरक्ति वस्तुतः अन्तरंग में रागादि भावों के उपशांत होने पर ही संभव है, अतः पापों से विरक्ति पूर्वक उनका त्याग कार्य है एवं रागादि भावों की उपशांतता कारण है। तथा वर्तमान में दृढ़ता पूर्वक किया गया हिंसादि पापों का त्याग आगामी रागादि भावों के शमन तथा उनके दूर करने में परम सहायक भी होता है अत भावी रागादि के अभाव का कारण भी है।

पूर्व में चारित्र धारण करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया था कि राग द्वेष की निवृति के लिए चारित्र धारण किया जाता है और राग द्वेष की निवृति हो जाने पर पंच पापों से सहज ही निवृत्ति हो जाती है। यहां पंच पापों से विरक्त होने को चारित्र कहा गया है, इसका तात्पर्य है कि राग द्वेष की निवृत्ति के लिए पंच पाप का त्याग प्रथम सीढ़ी है जिस पर आरूढ होकर ही मनुष्य शनैः शनैः अभ्यासपूर्वक परम वीतराग स्वरूप (स्वरूपाचरण) चारित्र को प्राप्त हो सकता है।

(शेष पृष्ठ ५० पर)

(५०)

चारित्र के भेद

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंग विरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥

मुनि श्रावक द्वय पात्र भेद कर-
संविभक्त – सम्यक्चारित्र-
सकल विकल संज्ञाओं द्वारा -
व्यवहृत होता बंधु ! पवित्र ।
सर्व संग से विरत साधुजन-
धारण करते 'सकल' महान,
आदरते हैं निकल गृहीजन-
कृश करने रागादिक म्लान ॥

भावार्थ– पात्रों के भेद से,चारित्र के दो भद हैं–(१) सकल चारित्र (२) विकल चारित्र। इनमें सकल चारित्र सम्पूर्ण परिग्रह से विरक्त साधुओं के होता है– जो हिंसादि पाचों पापों का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर राग द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील हैं और शुद्धोपयोगी बन कर प्रायः ज्ञान ध्यान और तप में लीन रहते हं – तथा विकल चारित्र जिनके संग (परिग्रह) का पूर्णतया त्याग नहीं हुआ ऐसे गृहस्थों के होता है ।

(पृष्ठ ४९ का शेष)

हिंसादि के त्याग से राग द्वेष की अंशात्मक निवृत्ति होने लगती है और स्वरूपलीनतामयी निश्चय चारित्र की संप्राप्ति में पाप निवृत्ति परम सहायक हुआ करती है, क्योंकि पाप करता हुआ व्यक्ति आत्मलीन भी हो जाय-यह नितांत असम्भव हं अतः पंच पापों का विरक्तिपूर्वक त्याग चारित्र का व्यवहारिक स्वरूप है। यतःव्यवहार और निश्चय चारित्र का परस्पर मैत्री भाव है और व्यवहारचारित्र विना निश्चय चारित्र टिकता नहीं है। अतः पापों के त्याग को चारित्र कहा है ।

(५१)

विकल चारित्र के भेद

गृहिणां त्रेधातिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकंचरणम् ।
पंच त्रि चतुर्भेदं त्रयं यथा - संख्यमाख्यातम् ॥

विकल रूप चारित्र गृही का
प्रतिपादित है तीन प्रकार-
अणु-गुण-शिक्षाव्रत स्वरूप त्रय
सार्थक संज्ञाएँ निर्धार ॥
इनमें अणुव्रत पंच विश्रुत हैं-
गुणव्रत त्रय शिक्षाव्रत चार
द्वादश व्रत में समाविष्ट है
एवं प्रमुख श्रावकाचार ॥

भावार्थ– गृहस्थों का चारित्र तीन प्रकार है (१) अणुव्रत (२) गुणव्रत (३) शिक्षाव्रत। इनमें अणुव्रत पांच, गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार हैं।

(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रह परिमाणव्रत, ये पांच अणुव्रत हैं।

(१) दिग्व्रत (२) अनर्थदण्डव्रत (३) भोगोपभोग परिमाण व्रत, ये तीन गुणव्रत हैं।

(१) देशावकाशिक (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास (४) वैयाव्रत ये चार शिक्षाव्रत हैं।

इस ग्रंथ में भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत, और देशावकाशिक [देशव्रत] को शिक्षाव्रत में गर्भित किया गया है जबकि तत्वार्थ सूत्र में देशावकाशिकव्रत को गुणव्रतों में एवं भोगोपभोग परिमाण व्रत को शिक्षाव्रतों में गर्भित किया है। इसमें कोई विरोध न होकर दृष्टिकोण का अंतर मात्र है।

(५२)

अणुव्रत का स्वरूप

प्राणातिपात वितथव्याहार स्तेय काम मूर्छेभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्यपुरमणमणुव्रतं भवति ॥

हिंसा अनृत परिग्रह मैथुन
चौर्य पाप हैं पंच प्रधान-
स्थूल रूप में विरति भाव से
इनका करना प्रत्याख्यान-
अणुव्रत कहलाता - गृहस्थ की-
धार्मिक चर्या का आधार-
जीवन में हो जायें जिससे-
आंशिक कृश रागादि विकार ॥

भावार्थ- प्राणातिपात (हिंसा) वितथ व्याहार (झूठ) स्तेय (चोरी) काम सेवन (कुशील) तथा मूर्छा (परिग्रह) इन पाँचों पापों से स्थूल रूप में विरक्त होकर त्याग करने का व्रत लेना अणुव्रत कहलाता है ।

त्रस जीवों के मारने या उन्हें कष्ट पहुँचाने के संकल्पपूर्वक (मन वचन काय से) प्रवृत्ति करना स्थूल हिंसा है । जिनके बोलने से किसी के प्राणों या धर्म का घात होता हो वा कलह विसंवादादि प्रारम्भ हो जाय ऐसे वचनों का प्रयोग स्थूल असत्य व जल और मिट्टी (जिन पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व न हो) के सिवाय दूसरों के धन धान्यादि वस्तुओं का विना दिए अपहरण करना स्थूल चोरी है । अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों पर कुदृष्टि डालना या विषय सेवन के भाव रखना स्थूल अब्रह्म (कुशील) है । आवश्यकता से अधिक परिग्रह के संग्रह करने की लालसा स्थूल परिग्रह कहलाता है ।

जब गृहस्थ पापों से विरक्त होकर इस (स्थूल) रूप में उनका संकल्प पूर्वक त्याग करता है तब अणुव्रती कहलाता है ।

(५३)

अहिंसाणुव्रत का स्वरूप

संकल्पात्कृत कारित मननाद्योगत्रयस्य चर सत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल बधाद्विरमणं निपुणाः ।।

अहिंसाणुव्रत है - मन वच तन-
कृत कारित अनुमोदन द्वार
त्रस की संकल्पी हिंसा का
आजीवन करना परिहार ।
संकल्पी आरम्भी एवं
उद्योगी व विरोधी चार-
हिंसाओं मे संकल्पी का
अणुव्रत में होता परिहार ।।

भावार्थ– मन वचन काय एवं कृत कारित अनुमोदना द्वारा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत त्रसजीवों का संकल्पपूर्वक घात करने का त्याग करना स्थूल वध का त्याग (अहिंसाणुव्रत) कहलाता है । प्रायः लोग समझते हैं कि किसी को मार डालने पर ही हिंसा का पाप लगता है, किन्तु यह उनका भ्रम है । क्योंकि दूसरों के प्राण नष्ट होने या न होने पर हिंसा वा अहिंसा निर्भर न होकर अपने दुर्भावों या भावनाओं एवं दुर्भावपूर्वक किए गए कार्यो पर निर्भर है । जीव मरें या न भी मरें, किंतु यदि कषायपूर्वक उन्हें सताने का संकल्प या प्रयत्न किया जाता है तो वह हिंसा है - यही नहीं, यदि अयत्नाचार पूर्वक विना किसी के सुख दुख की परवाह किए कोई भी प्रवृत्ति की जाती है,चाहे उसमे दूसरों को बाधा न भी पहुँचे तो भी वह हिंसा (आत्महिंसा) है ।

(५४)

अहिंसाणुव्रत के अतीचार

छेदन बंधन पीड़न मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूल बधाद् व्युपरतेः पंच ।।

छेदन बंधन, प्राणप्रपीड़न,
समय टाल देना आहार ।
शक्ति निरीक्षण विन आश्रित पर
कुछ भी अधिक लादना भार ।।
अहिंसाणुव्रत में निषिद्ध हैं
दोष उल्लिखित पंच प्रकार,
इन्हें टाल सद्गृही अहिंसा-
जीवन में करता स्वीकार ।।

भावार्थ– (१) प्राणियों के कर्ण नासिका आदि अंगों का छेदन करना। (२) पशुओं को रस्सी सांकल पिंजड़ा आदि बंधन में डालना। (३) उन्हे चाबुक डंडे आदि से मारना। (४) अपने आश्रितों पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना। (५) अपने अधीन मनुष्यों या पशुओं को समय पर आहार न देना या आहार में कमी करना ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतीचार हैं।

★ अतीचार का लक्षण -

हो जब व्रत सापेक्ष व्रतों का भंग अंशतः किसी प्रकार -
अतीचार वह प्रतिपादित है - जिससे होता व्रत सविकार।

व्रत पालन करने की मानसिक दृढ़ता के अभाव में जब अपने व्रत की रक्षा का ध्यान रखते हुए भी उसका गली निकाल कर अंश रूप में भंग किया जाता है उसे अतीचार कहते हैं।

(५५)

सत्याणुव्रत का लक्षण

थूस्लमलीकं न वदति न परान् वादयति च सत्यमपि विपदे ।
यत्ताद्वदन्ति सन्तः स्थूल मृषावाद वैरमणम् ॥

स्थूल असत्य न भाषण करना
करवाना भी नहिं अघ जान ।
वा विपत्ति में सत्य वचन भी-
कहे न कहलाये मतिमान् ॥
यह है सत्य अणुव्रत पावन-
हितमित करना वचन प्रयोग-
गर्हित वा सावद्य वचन का
जीवन में तजना उपयोग ॥

भावार्थ—स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना तथा ऐसा सत्य भी न बोलना जिससे स्वयं या दूसरों पर विपत्ति आ जाय—इसे सत्याणुव्रत कहते हैं। इसको स्थूल मृषावाद विरमण भी कहते हैं।

यहां स्थूल झूठ से अभिप्राय उन वचनों से है जिनके बोलने से कोई धार्मिक श्रद्धा से या अपने शीलसंयमादि के पालन से विचलित हो जाय या जिनसे कलह विसंवाद उत्पन्न हो जाय, दूसरों के प्राणघात या कार्यों में विघ्न पड़ जाय, अपकीर्ति हो आय, जीविका नष्ट हो जाय या पापों में प्रवृत्ति बढ़ जाय। सत्याणुव्रती को ऐसे वचनों का प्रयोग न करना चाहिए।

(५६)

सत्याणुव्रत के अतीचार

परिवाद रहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेख करणं च।
न्यासापहारतापि च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य॥

कूट लेख लिखना-लिखवाना,
चुगली वा करना परिवाद।
पर का गुप्त रहस्य प्रकाशन-
जिससे हो निंदा-अपवाद॥
निहित धरोहर-हर वचनों का
मुख से करना कुटिल प्रयोग।
ये सब दूषण टाल व्रतीजन
वाणी का करते उपयोग॥

भावार्थ—सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं :— (१) परिवाद (धर्म-विरुद्ध मिथ्या उपदेश देना। (२) रहोभ्याख्यान (दूसरों के गुप्त रहस्य को प्रकट करना। (३) चुगली करना। (४) कूट लेख लिखना (दूसरों के द्वारा बिना किए कार्यों या, बिना कहे वचनों का लेख लिखना।) (५) दूसरों की वस्तुओं को जो अपने यहाँ धरोहर के रूप में रक्खी गई हों, अपहरण करने वाले वचन कहना - जैसे अपने यहाँ १००) रुपये कोई रख जावे और वाद में भूल से आकर ५०) रु. माँगने लगे तो जान बूझ कर कहना कि जितने रुपए रखे हों उतने ले जाइए। ये पांच सत्याणुव्रत के अतीचार हैं।

(५७)

अचौर्याणुव्रत का लक्षण

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ।।

निहित पतित विस्मृत परधन को
विना दिए नहिं लेना जान ।
अथवा ले पर को नहिं देना
है अचौर्य अणुव्रत अम्लान ।।
मानव की प्रामाणिकता का
एक मात्र है यह आधार ।
विश्वसनीय इसी से रहता
जीवन में जन का व्यवहार ।।

भावार्थ– विना दिए धन धान्यादि दूसरों की वस्तुओं को–जो कहीं भी रक्खी हों, गिरी, पड़ी या भूली हुई हों या धरोहरादि के रूप मे अपने यहाँ जमा हों - किसी भी दशा में अपहरण करने के विचार से न तो स्वयं लेना और न उठाकर दूसरों को देना, इसे अचौर्याणुव्रत या स्थूल चौर्य से विरक्त होना कहते हैं ।

इस व्रत का पालक जल और मृत्तिका के सिवाय किसी की वस्तु को विना दिए ग्रहण नहीं करता । तथा जिस जलाशय या मिट्टी की खानि पर जल एवं मिट्टी के ग्रहण करने की भूस्वामी ने रोक लगा दी हो उससे वह बिना आज्ञा लिये मृत्तिकादि भी ग्रहण नहीं करता ।

(५८)

अचौर्याणुव्रत के अतीचार

चौर प्रयोग चौरार्थादान विलोप सदृश सम्मिश्राः ।
हीनाधिक विनिमानं पंचास्तेये व्यतीपाताः ॥

तस्कर को प्रोत्साहन देना,
तस्कर - धन करना स्वीकार ।
हीनाधिक मानोन्मान, का
दैन लैन में दुर्व्यवहार ॥
राजकीय नियमोल्लंघन कर
उद्यम या करना व्यापार ।
अपमिश्रण कर विक्रय करना
व्रत अचौर्य दूषण परिहार ॥

भावार्थ- (१) अन्य को चोरी के उपाय बताना या प्रोत्साहन देना । (२) चोरी का धन लेना । (३) राज्य के नियमों का उल्लंघन करना । (४) अधिक मूल्य की वस्तुओं में कम मूल्य की बस्तु मिलाकर बेंचना । (५) नाप तौल के बांट गज (मीटर) आदि लेने के,बड़े और बेचने के छोट अर्थात् कम वजन के रखना । ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं । व्रतीं को इनका त्याग अवश्य करना चाहिए ।

(५९)

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदार निवृत्तिः स्वदार संतोष नामापि ।।

पाप भीरु बन स्वयं पर–स्त्री
सेवन का करना परिहार-
इस कुकर्म में अन्य जनों को
भी न रंच देना सहकार ।
पर नारी को माता, भगिनी
याकि सुता सम लेना मान
यह परदार निवृत्ति सुव्रत है-
या स्वदार संतोष महान ।।

भावार्थ– पापभीरुता वश पर स्त्री सेवन न तो आप करना और न दूसरों को कराना (तथा पर स्त्री को माता बहिन या बेटी के समान समझना) परदार निवृत्ति या स्वदार संतोष अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रत है । इस व्रत का धारी अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों पर कुदृष्टि नहीं डालता । स्त्रियां भी पतिव्रता बन कर अन्य पुरुषों के प्रति पिता भाई या पुत्रवत् भावना रखती और वैसा ही व्यवहार करती हैं ।

(६०)

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार

अन्य विवाहाकरणानंगक्रीड़ा विटत्व विपुल तृषः ।
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः ।।

अन्य विवाह रचाना, रखना
मन में कामासक्ति विशेष ।
कुटिला नारी को संगति या
गमनागमन प्रवृत्ति विशेष ।।
कामांगों से भिन्न अग कर
क्रीड़ा करना - कामाचार ।
नारि स्वांग रच मन बहलाना -
दूषण हैं ये पंच प्रकार ।

भावार्थ– (१) दूसरों के विवाह करवाना । (२) कामसेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना । (३) स्त्रियों के स्वाँग बनाना । (४) काम सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना । (५) व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहां जाना आना या उनसे विशेष सम्पर्क रखना ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार हैं ।

(६१)

परिग्रह परिमाणव्रत

धन धान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण नामाऽपि ॥

परिमित धन धान्यादि ग्रंथ की
आजीवन सीमा निर्धार-
उससे अधिक चाह नहिं करना-
तोष वृत्ति कर अंगीकार ।
वह परिग्रह परिमाण सुव्रत है-
इतर नाम इच्छा परिमाण-
जीवन में करता सहज हि जो-
अमित मानसिक शांति प्रदान ॥

भावार्थ– जीवन में संतोषपूर्वक धन धान्यादि आवश्यक वस्तुओं की जन्म पर्यंत सीमा निर्धारित कर उससे अधिक वस्तुओं की चाह न करना परिग्रह परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत है ।

जीवन में धनादि बाह्य वस्तुओं के संग्रह करने की तृष्णा मनुष्य के अन्तःकरण में सदैव रहा करती है जिसकी पूर्ति करते हुए उसके जीवन का अन्त हो जाता है; किन्तु पूर्ति नहीं हो पाती । ज्यों २ वह संग्रह करता जाता है त्यों २ उसकी लालसा और भी बढ़ती जाती हैं जिससे वह सुखी बनने के स्थान पर अधिकाधिक दुखी बनता चला जाता है, इसका मूल कारण मनुष्य का आन्तरिक राग है । इसको सीमित करने के लिए यह परिग्रह परिमाण व्रत है । जिससे जीवन को संतोष एवं शांतिपूर्वक व्यतीत करने में सहायता भी मिलती है और राग द्वेष में भी कमी आ-जाती है । वस्तुतः बाह्य परिग्रह की चाह ही दुखों और आकुलता की जननी हैं । अतः यदि पूर्ण परिग्रह का त्याग न हो सके तो कम से कम आवश्यकतानुसार उसकी सीमा बांध कर शेष का त्याग करने का व्रत अवश्य लेना चाहिए ।

(६२)

परिग्रह परिमाण व्रत के अतीचार

अतिवाहनाति संग्रह विस्मय लोभातिभारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यंते ।।

इष्ट वस्तुओं का अति सँचय
अधिक वाहनों का उपयोग ।
दानादिक सत्कार्यों में भी,
कृपण वृत्ति का विपुल प्रयोग ।।
पर समृद्धि लख विस्मय पूर्वक-
ईर्ष्या कर करना मन म्लान ।
तृष्णावश अति भारवहन-ये
पंच दोष हैं सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ– (१) आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना । (२) वाहनों (सवारियों) को अत्यधिक इकट्ठा या उपयोग करना । (३) दूसरों की धन सम्पत्ति देखकर आश्चर्य करना और जलना । (४) अधिक लोभ वृत्तिपूर्वक दानादि में कृपणता करना । (५) अपने ऊपर कार्यों का अत्यधिक भार लादना–जिससे दिन रात हाय २ कर बेचैनी बनी रहे । ये सब परिग्रह परिमाण व्रत के अतीचार हैं ।

(६३)

अणुव्रत धारण करने का फल

पंचाणुव्रत निधयो निरतिक्रमणाः फलंति सुरलोकम् ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्य शरीरं च लभ्यन्ते ।।

अणुव्रतनिधियाँ निरतिचार यदि-
सेवित होतीं परम पुनीत ।
वे निश्चित ही अमरपुरी में-
वरद सिद्ध हों आशातीत ।।
अवधिज्ञान अणिमा महिमादिक-
ऋद्धि सिद्धियाँ अपरंपार -
व्रती पुरुष संपादन करता-
दिव्य शरीरी बन साकार ।।

भावार्थ– इन (उल्लिखित) पंचाणुव्रतरूपी निधियों का निरतिचार पालन करने से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती हैं, जहां अवधिज्ञान, अणिमा महिमादिक ऋद्धियाँ (आठ गुण) और दिव्य शरीर की सहज ही प्राप्ति होती है । अणुव्रती नियम से स्वर्ग में देव हीं होते हैं । तथा इस जन्म में भी अपना जीवन शांति, संतोष एवं पवित्रता के साथ व्यतीत कर प्रामाणिकता एवं लोक प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं ।

(६४)

अणुव्रतों में प्रख्यात व्यक्ति

मातंगो धन देवश्च वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च संप्राप्तः पूजातिशयमुत्तमम् ।।

पालन कर अणुमात्र अहिंसा-
हुआ यशस्वी यम चांडाल ।
ख्यात हुआ धन देव अवनि पर
पावन सत्य अणुव्रत पाल ।।
व्रत अचौर्य में वारिषेण नृप
जयकुमार परिग्रह परिमाण-
ब्रह्मचर्य धारण कर नीली-
विश्रुत हुई सह कष्ट महान ।।

भावार्थ– अहिंसाणुव्रत का दृढ़ता पूर्वक पालन करनें में यमपाल नामक चांडाल, सत्याणुव्रत में धनदेब सेठ, अचौर्याणुव्रत में वारिषेण, ब्रह्मचर्यव्रत में नीली और परिग्रह परिमाण व्रत में भरत चक्रवर्ती का प्रधान सेनापति जयकुमार नृपति विश्व में यशस्वी हुए हैं ।

(६५)

पंच पापों में कुख्यात व्यक्ति

धन श्री सत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ।।

धनश्री ने पति बधकर पाया-
नरकवास अतिशय दुखखान ।
मिथ्याभाषी सत्यघोष का
हुआ कृष्ण मुख सह अपमान ।।
चोरी में तापस, कुशील में-
कोतवाल मुख हुआ मलीन ।
तृष्णावश जल मरा श्मश्रु-
नवनीत वणिक बेचारा दीन ।।

भावार्थ– हिंसा में धनश्री. झूठ में सत्यघोष, चोरी में तापस, कुशील में यमदण्ड कोतवाल और परिग्रह में श्मश्रुनवनीत नाम का वणिक प्रसिद्ध हुए हैं ।

धनश्री ने अपने पति का ही वध कर डाला था, तथा सत्यघोष ने दूसरे की धरोहर का अपहरण कर काला मुँह करवाया था । एक चोर जो तापसी के भेष में चोरी करता था उसका रहस्य खुलने पर वह दण्डित हुआ था, यमदण्ड कोतवाल ने अपनी माता के साथ ही व्यभिचार कर काला मुँह करवाया और श्मश्रुनवनीत वणिक मूँछ मक्खन के नाम से बदनाम हुआ था, जो ग्वालों से छाछ मांग कर पीता और मूछों में लगे हुए मक्खन को इकट्ठा कर तृष्णावश मन ही मन राजा बनने की बात सोचता हुआ घी के घड़े में ठोकर मार आग के भभक जाने से जल कर मृत्यु को प्राप्त हुआ था ।

(६६)

श्रावकों के अष्ट मूलगुण

मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥

श्री जिनेन्द्र ने सद् गृहस्थ हित-
मूलगुणों का किया विधान ।
पंच अणुव्रत पालन करना
कभी न करना मदिरापान ॥

मांस तथा मधु सेवन का भी
पूर्णतया करना परिहार ।
सुखद श्रमण संस्कृति के ये ही
अष्ट मूल हैं दृढ़ आधार ॥

भावार्थ– अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणव्रत, मद्यत्याग, मांसत्याग और मधु त्याग इन्हें श्री जिनेन्द्र भगवान् ने गृहस्थों के आठ मूलगुण कहा है। इनका पालन किये बिना कोई भी व्यक्ति श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता ।

इति तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थ अध्याय

(६७)

गुणव्रत का स्वरूप
और भेद

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यांति गुणव्रतान्यार्याः ॥

जिनके परिपालन से होती
अणुव्रत में गुणबृद्धि विशेष-
गुणव्रत संज्ञा आर्यवृन्द ने-
उन्हीं व्रतों को दी सविशेष ।।
संख्या में वे त्रय प्रसिद्ध हैं-
दिग्व्रत जिनमें प्रथम सुजान-
पुनि अनर्थदण्डव्रत एवं
व्रत भोगोपभोग परिमाण ।।

भावार्थ– आप्त पुरुषों ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीन व्रतों को गुणव्रत के नाम से संबोधित किया है । इनके परिपालन करने से अणुव्रतों में गुणों की बृद्धि हुआ करती है, अतः इनकी गुणव्रत संज्ञा सार्थक है ।

(६८)

दिग्व्रत का लक्षण

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप – विनिवृत्यै ॥

आजीवन पुनि सूक्ष्म पाप का-
बहुशः करनें प्रत्याख्यान-
पूर्वादिक दशदिक् सीमाएँ
मन में निश्चित कर मतिमान् ।
उससे बहिर्गमन नहिं करने
का लेवे संकल्प महान–
यह व्रत दिग्व्रत है – अणुव्रत में-
गुण समृद्धि साधन अम्लान ॥

भावार्थ– सूक्ष्म पापों के त्याग के अभिप्राय से मरण पर्यंत दशों दिशाओं में आने जाने की सीमा निर्धारित कर उससे बाहर न जाने की दृढ़ प्रतिज्ञा करना कि मैं अमुक २ दिशा में अमुक स्थान से आगे नहीं जाऊँगा–इसका नाम दिग्व्रत है ।

(६९)

दिग्व्रत में मर्यादा की विधि

मकराकरसरिदटवीगिरि जनपद योजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥

बहु प्रसिद्ध सरिता सागर वन
पर्वत एवं देश विशेष—
अथवा योजनादि निश्चित कर
व्रत सीमार्थ दिया निर्देश ॥
उत्तर में हिमगिरि दक्षिण में-
आंध्र, पूर्व में ब्रह्मप्रदेश ।
पश्चिम महासिंधु यों सीमा—
निश्चित करता व्रती अशेष ॥

भावार्थ— मैं पूर्व दिशा में ब्रह्मदेश, पश्चिम में सिंधु, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में आंध्रप्रदेश तथा ऊपर और नीचे अमुक योजनों से आगे नहीं जाऊँगा। विदिशाओं (ईशान आदि) में भी अमुक २ स्थान या योजनों की निर्धारित सीमा से आगे नहीं जाऊँगा, इस प्रकार दिग्व्रती को अपनीं दशों दिशाओं की सीमाएँ निश्चित कर लेना चाहिए। ऊपर निर्दिष्ट सीमा उदाहरणस्वरूप है, इससे हीन या अधिक भी आवश्यकतानुसार सीमा बाँधी जा सकती है।

(७०)

दिग्व्रत की महिमा

अवधेर्बहिरणुपाप प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पंच महाव्रतपरणतिमणु-व्रतानि प्रपद्यन्ते ।।

निश्चित सीमा उल्लंघन कर
जब नहिं करता व्रती प्रयाण,
तब मर्यादा बाह्य स्वतः ही.
अणु पापों का हो अवसान ।
फल स्वरूप दिग्व्रत के द्वारा
श्रावक के अणुव्रत-अम्लान-
पंच महाव्रत की परणति को
हो जायें संप्राप्त महान ।

भावार्थ- दिग्व्रत की सीमा के बाहर न जाने (एवं सीमा बाह्य समस्त बस्तुओं के प्रति राग द्वेषादि भावों का अभाव हो जाने) से दिग्व्रत धारण करने वालों के अणुव्रत स्थूल सूक्ष्म सभी पापों का अभाव हो जाने के कारण महाव्रत की परणति को प्राप्त हो जाते हैं ।

सम्यक्दृष्टि जब अपने आपको सम्पूर्ण पापों का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ पाता है तब स्थूल पापों का त्याग कर अणुव्रती बनता है, किंतु उसका लक्ष्य और भावना परिपूर्ण पापों को त्याग कर महाव्रती बनने की ही बनी रहती है। अतः महाव्रतों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रथम चरण के रुप में सूक्ष्म पापों का भी त्याग करने के लिए दिग्व्रत धारण करता है, जिससे दशों दिशा में की जाने वाली मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों से वह सहज ही बच जाता है ।

(७१)

दिग्व्रती के अणुव्रत साक्षात् महाव्रत क्यों नहीं होते ?

प्रत्याख्यान तनुत्वान्मंदतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्वेन दुवरधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥

प्रत्याख्यान कषाय मंदतम-
हो जाती जब उदयाधीन-
भावों में संलक्षित होती-
तब पर्याप्त विशुद्धि नवीन ।
यतः न सत्ता में हो पाता-
सूक्ष्म कषायों का परिज्ञान-
अतः व्रती के व्रत कल्पित हों-
मुनिव्रत सम इस दृष्टि प्रमाण ।।

भावार्थ– दिग्व्रती के प्रत्याख्यान कषाय कर्म की मंदता के कारण उस कषाय के निमित्त से होने वाले आत्मा के चारित्र मोह जन्य कषाय भाव भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से सत्ता मे कठिनता से अनुभव करने में आते हैं, किन्तु मंदोदय जन्य भावों में मलिनता अवश्य बनी रहती है, अतः उसके व्रत साक्षात् महाव्रत नहीं कहलाते । यदि प्रत्याख्यान कषाय की मंदता न होकर उसका अभाव हो जाता तो अणुव्रती दिग्व्रत धारण कर सीमा बाहर ही पापों का त्याग न करके सीमा के अन्दर भी (सर्वत्र) पापों का त्याग कर देता - जो उसने अभी किया नहीं है । अतः उसके व्रत साक्षात् महाव्रत नहीं कहलाते । उपचार से महाव्रत के समान माने जाते हैं ।

(७२)

महाव्रत का स्वरूप

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनो वचः कायैः ।'
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥

हिंसादिक पांचों पापों का
मन वाणी काया के द्वार-
कृत कारित अनुमोदन द्वारा
पूर्णतया करना परिहार-
कहलाता परिपूर्ण महाव्रत-
महापुरुष का सूत्र प्रमाण ।
यह तब होता जब कषाय नहिं-
रहे उदय में प्रत्याख्यान ।।

भावार्थ– हिंसा अनृतादि पाचों पापों का मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना द्वारा विरति भाव पूर्वक पूर्णतया त्याग कर देना महापुरुषों (श्रमणों-निर्ग्रन्थ साधुओं) का महाव्रत कहलाता है ।

(चूंकि दिग्व्रती उक्त प्रकार से पंच पापों का सर्वथा त्यागी नहीं होता, अतः उसके व्रत महाव्रत के समान भले मान लिए जावें; किन्तु साक्षात् महाव्रत नहीं कहला सकते ।

(७३)

दिग्व्रत के अतीचार

**ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रबृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते ॥**

दिङ् मर्यादा विस्मृत करना -
सीमा का करना विस्तार ।
सीमा बाह्य शिखर आरोहण-
अथवा करना वायु विहार ॥
सुरंगादि में तिर्यक् अथवा-
सिंधु-खानि में अधः प्रवेश-
सीमोल्लंघन पूर्वक करते-
दिग्व्रत होता विकृत अशेष ॥

भावार्थ- दिग्व्रत के पाँच अतीचार हैं। उर्ध्वगमन करने (वायुयान आदि में) अथवा पर्वतादि पर आरोहण करने में की हुई सीमा का ध्यान न रखना। (२) खानि आदि में नीचे उतरने या समुद्रादि में प्रवेश करते समय नीचे की की हुई मर्यादा का ध्यान न रखना। (३) तिर्यक् (सुरंगादि) प्रवेश करते समय विदिशाओं की सीमा को भूल जाना। (४) क्षेत्रों की सीमा में वृद्धि कर लेना। (पूर्वादि की सीमा घटाकर पश्चिमादि सीमा बढ़ा लेना) (५) किस दिशा में जन्म पर्यंत आने जाने की कितनी सीमा निश्चित की है, इस बात को भूल जाना।

(७४)

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

अभ्यंतरं दिगवधे-रपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्ड व्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥

दिग्व्रत की सीमा में रहकर-
जिन मलीन योगों के द्वार-
निष्कारण ही सूक्ष्म पाप हों-
विरति भाव उनका परिहार-
है अनर्थदण्ड व्रत पावन
पाप संवरण हेतु प्रधान ।
जिसके परिपालन से बहुशः-
राग द्वेष का हो अवसान ॥

भावार्थ– दिशाओं की मर्यादा में रह कर भी मन वचन काय की जिन प्रवृत्तियों द्वारा व्यर्थ ही पाप का आस्रव बंध होता है और जिनसे प्रयोजन कुछ भी नहीं सधता- उनका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है ।

मनुष्य प्रायः प्रयोजन के सिवाय बिना प्रयोजन भी पापों में प्रवृत्ति किया करता है । अतः दिग्व्रती जब विवेक पूर्वक मन वचन काय से निष्प्रयोजन होने वाले पापों का विधिपूर्वक त्याग करता है उसका वह त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है (अन् + अर्थ = बिना प्रयोजन) (दण्ड = पाप)

(७५)

अनर्थदण्ड के पांच भेद

पापोपदेश हिंसादानापध्यान दुःश्रुतीः पंच ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदंड-धराः ॥

यदपि अनर्थदण्ड हों अगणित-
संग्रह कर उनका सविशेष-
पंच भेद में किये समाहित-
जिनमें प्रथम पाप--उपदेश ॥
हिंसादान द्वितीय विश्रुत है
पुनि तृतीय मनसा अपध्यान ।
दुःश्रुति है चतुर्थ अरु पंचम-
अघ प्रमादचर्या अति म्लान ॥

भावार्थ– निष्पाप (निष्कषाय) जिनेन्द्र देव ने अनर्थदण्डों के पांच भेद किए हैं–(१) पापोपदेश (२) हिंसादान (३) अपध्यान (४) दुःश्रुति (५) प्रमादचर्या ।

(७६)

पापोदेश अनर्थदण्ड

तिर्यक्क्लेश वणिज्याहिंसारंभ प्रलंभनादीनाम् ।
प्रसवः कथाप्रसंगः स्मर्तव्यः पाप–उपदेशः ।।

जिन्हें श्रवणकर जन प्रेरित हों
दुष्कर्मों प्रति विविध प्रकार–
ऐसी वार्ता कथा आदि कह–
अपने प्रकटाना उद्‌गार ।
पशु संक्लेश विबर्द्धक, हिंसा,
संबर्द्धक – खेती व्यापार ।
पर वंचन – व्यवहार कथाएँ–
है पापोपदेश अघ द्वार ।।

भावार्थ– तिर्यंचों (पशु पक्षियों) को क्लेश पहुँचाने वाले कार्य या व्यापार करने का उपदेश देना तथा ऐसा व्यापारादि करने को प्रोत्साहन देना जिसमें बहुत आरंभ (जीव हिंसा) होती हो अथवा दूसरों को ठगने के उपाय बताना या ऐसी कथाएँ कह कर उनकी पुष्टि करना - यह सब पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है ।

(७७)

हिंसादान अनर्थदण्ड

परशुकृपाण खनित्रज्वलनायुध शृङ्गिशृङ्खलादीनाम् ।
बधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥

फरसा, खड्ग, कुदाल,अग्नि, विष-
शस्त्र, शृङ्खला, तीर कमान-
जो भी हिंसा-अघ साधन हों-
उन्हें अन्य को देना दान-
मान प्रतिष्ठा संपादन का-
मानस में रखना अरमान ।
यह कुदान ही कहा वस्तुतः
जिन शासन में हिंसादान ।।

भावार्थ- फरसा, तलवार, कुदाल, अग्नि, शस्त्र, सींग, सांकल, आदि हिंसा के साधन दूसरों को प्रदान करना हिंसादान नामक अनर्थ-दण्ड है । हिंसादान करने में अपना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; किन्तु हिंसा में सहायक होने से व्यर्थ ही पाप का बंध होता है । अतः इसे अनर्थदण्ड कहा गया है ।

(७८)

अपध्यान अनर्थदण्ड

बध बंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥

राग द्वेष वश पर कलत्र वा
अन्य जनों को कारागार-
बध - बंधन - अंगादि उच्छेदन -
हो जाने - पड़ जाने मार -
विजय – पराजय–अर्थ नाश के
मनमें करना व्यर्थ विचार-
है अपध्यान पतन का कारण
नरकादिक दुर्गति का द्वार ॥

भावार्थ– राग या द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के स्त्रियादि कुटुम्बीजनों के प्रति बध बंधन आदि की भावना करना, अथवा किसी की धन हानि, हार-जीत, कारागारादि हो जाने के निकृष्ट विचारों को मन में स्थान देना अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है ।

अपने विचारने से किसी का बुरा तो होता नहीं; किन्तु दुर्भावना रखने से निरन्तर पाप का बंध अवश्य होता रहता है ।।

(७९)

दुःश्रुति अनर्थदण्ड

आरम्भ संग साहस मिथ्यात्वद्वेषराग मद मदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनाम् दुःश्रुतिर्भवति ।।

जिनके श्रवण किये जाग्रत हों -
राग द्वेष मद काम विकार-
मिथ्यादृग् आरम्भ परिग्रह-
दुर्व्यसनों में रुचि संचार
ऐसे शास्त्र - कथाएँ अथवा-
उपन्यास या काव्य पुराण-
सुरुचि - श्रवण दुःश्रुति कहलाती
जिससे हो जाये मन म्लान ।।

भावार्थ– जिनका श्रवण करने से आरंभ (हिंसा के पाप कार्य) परिग्रह–(वस्तुओं के संग्रह की भावना) साहस (दुष्कर्म करने का साहस) मिथ्यात्व (एकांत विपरीतादि भाव रूप श्रद्धा) द्वेष (वैर-भाव) राग, मद–(गर्व) काम विकार आदि दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं उन शास्त्रों-कथा कहानियों, उपन्यासों, काव्यों, नाटकों अथवा वार्ताओं को सुनना सुनाना व पढ़ना दुःश्रुति अनर्थदण्ड है ।

साहित्य वही पढ़ना या सुनना चाहिए जिससे मन में पवित्र विचारों का संचार हो एवं सत्कार्यों के करने की प्रेरणा मिले । दुर्भावनाओं को जन्म देने वाला शास्त्र व्यक्ति और समाज के लिए उसके पतन का कारण एवं हितों का घातक होने से शस्त्र का काम करता है । अतः उनका पठन श्रवण दु-श्रुति नामक अनर्थदण्ड है । आधुनिक युग में कुरुचि-पूर्ण अश्लील मारधाड़ से भरे चलचित्रों (सिनेमा) को देखना–जिन से काम विकार या व्यर्थ ही राग द्वेष उत्पन्न होता है–अनर्थदण्ड में ही शमित कर लेना चाहिये ।

(८०)

प्रमादचर्यां अनर्थंदण्ड

क्षिति सलिल दहन पवनारम्भं विफलं बनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥

अग्नि, भूमि, जल, वायु काय को
निष्कारण ही देना त्रास -
तरु, फल, पत्र, पुष्प, शाखादिक
छिन्न भिन्न का विफल प्रयास ॥
यत्र तत्र पर्यंटन व्यर्थं ही-
अन्य जनों को लेकर संग-
यह प्रमादचर्या कहलाती-
वर्जनीय है जो सर्वांग ॥

भावार्थ– बिना प्रयोजन भूमि खोदना, जल विखेरना या नदी सरोवर में पत्थर फेंकना, अग्नि जलाना, पंखे चलाना, एवं वृक्षों को उखाड़ना या उनके पत्र, पुष्प, डाल, फलादिक तोड़ना-छिन्न-भिन्न करना, तथा व्यर्थं में इधर उधर पर्यंटन स्वयं करना और दूसरों को कराना—यह 'सब प्रमादचर्यां है ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये एकेन्द्रिय जीव हैं। गृहस्थी के कार्य इनके उपयोग बिना नहीं चलते। इनका पूर्णतया संरक्षण गृह त्यागी साधु ही कर सकते हैं, किन्तु गृहस्थ भी इनको बिना प्रयोजन न सतावें और यथा संभव इनके संरक्षण का पूरा ध्यान रखें - इस दृष्टि से प्रमादचर्या अनर्थंदण्ड के त्याग का विधान किया गया है।

इन पांचों प्रकार से उल्लिखित अनर्थंदण्डों का त्याग करना अनर्थंदण्ड व्रत कहलाता है।

(८१)

अनर्थदण्डव्रत के पांच अतीचार

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनम् पंच ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥

भण्ड वचन द्वारा मन रञ्जन-
काय कुचेष्टा संग परिहास -
गोष्ठी में निःसीम निरर्गल -
अर्थशून्य करना बकवास ॥
भोग्य वस्तुओं का अति संचय–
करने में रहना रुचिवान् ।
योग प्रवृत्ति निरर्थक करना-
व्रत दूषण ये पंच प्रधान ॥

भावार्थ– (१) हास्य मिश्रित अश्लील (भंड) वचन वोलना । (२) अश्ल ल वचनों के साथ शरीर के अंग मटका कर कुचेष्टा भी करना । (३) निरर्थक वकवास करना । (४) भोगोपभोग सम्बन्धी वस्तुओं का विना प्रयोजन अति संचय करना । (५) मन वचन काय से विना प्रयोजन अविवेकपूर्ण कार्य करना, ये पांच अनर्थदण्ड व्रत के अतीचार हैं ।

(८२)

भोगोपभोग परिमाणव्रत

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोग परिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥

जो इन्द्रिय के इष्ट विषय हैं
उनका भी कर परिसंख्यान–
भोगों को मर्यादित करना–
व्रत भोगोपभोग परिमाण ।
दिग्व्रत की सीमा में रहकर–
सद्गृहस्थ इस व्रत के द्वार–
इन्द्रिय संयम में प्रवृत्ति कर
कृश करता रागादि विकार ॥

भावार्थ– रागादि विकारों को कृश करने के अभिप्राय से प्रयोजन-भूत इन्द्रियों के इष्ट विषयों की (भोग्य पदार्थों की) संख्या को निश्चित करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है ।

इस व्रत के द्वारा भोगोपभोग से संबंधित असंख्य वस्तुओं के प्रति अनुराग कम करने के अभिप्राय से पांचों इन्द्रियों की भोग सामग्री की संख्या नियत कर ली जाती है इससे शेष भोग सामग्रियों में अनुराग कम हो जाता है । अतः विषयानुराग को क्रमशः समाप्त करने के लिए इस व्रत की परम आवश्यकता है ।

(८३)

भोग और उपभोग का लक्षण

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशन वसनप्रभृति पंचेन्द्रियो विषयः ॥

एक बार कर भोग न जिसका-
पुनः किया जाय उपयोग-
अंजन मंजन अशन पान सब-
सामग्री कहलाती भोग ।
गृह वस्त्रादि वस्तुएँ - जिनको-
भोगा जाए बारंबार-
आचार्यों ने उन विषयों को
संज्ञा दी उपभोग विचार ॥

भावार्थ– इन्द्रियों के भोगने योग्य वे पदार्थ, जिन्हें एक बार ही भोगा जाकर पुनः उपयोग में नहीं लाया जाता उन्हें भोग कहते हैं– जैसे भोजन सामग्री या अंजन मंजनादि । वे पदार्थ–जो इन्द्रियों के बार २ भोगने में आते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं–जैसे वस्त्र, पलंग, सवारी आदि ।

(८४)

भोगोपभोग परिमाणव्रत की विधि

त्रसहति परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमाद परिहृतये-
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ।

श्री जिनेन्द्र की चरण शरण गह
सर्व प्रथम सद् गृही उदार-
त्रस बध के परिहार हेतु-मधु
मांस करें नहि अंगीकार ।
पुनि प्रमाद परिवर्जन करने-
आजीवन तज मदिरा पान-
सात्विक असन पान अपना कर
संयम पथ साधें अम्लान ।।

भावार्थ– भगवज्जिनेन्द्र के चरणों की शरण लेने वाले व्रती पुरुषों द्वारा सर्व प्रथम त्रस हिंसा का त्याग करने के लिए मधु (शहद) और मांस का त्याग करना चाहिए तथा त्रस हिंसा के साथ-साथ प्रमाद का परित्याग करने के लिए मदिरा का भी त्याग करना चाहिए ।

मधु (शहद) मक्खियों का पुष्प रसपान कर लाया और छत्ते में वमन किया हुआ रस है, जो वमन होने से भी अभक्ष्य है और उसमें अनक सूक्ष्म त्रस जीवों की भी उत्पत्ति होती रहती है अतः उसके सेवन करने से उनका घात होना अनिवार्य है । इसी प्रकार मांस भी प्रथमतः पशु पक्षियों को प्रायः मारकर ही उनके कलेवर के रूप में प्राप्त होता है तथा उस मांस में प्रति समय अनंत सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति भी होती रहती है–जिसके भक्षण से उनका घात हो जाता है । मदिरा मादक पदार्थों को सड़ा कर बनाई जाती है जिससे अनंत सूक्ष्म त्रसजीवों की उसमें हर समय उत्पत्ति होने और पीने पर उनका घात होने के साथ ही नशा भी उत्पन्न करने से प्रमाद संवर्द्धक होती है अतः तीनों वस्तुएँ सेवन करने योग्य नहीं हैं ।

(८५)

पुनश्च –

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि ।
नवनीत निम्ब कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ।।

स्वल्प स्वाद हित हेतु स्वयं के
हो अनंत जीवों का घात-
वे सब कंदमूल अदरक वा
नवनीतादि त्याज्य हैं भ्रात !
केतकि निम्ब कुसुम जैसी सब
वस्तु सेव्य नहिं हैं, मतिमान् !
इन सब का परिहार स्वपर हित
श्रेयस्कर है सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ– अपनी जिह्वा (जीभ) के थोड़े से स्वाद के लिए जिनके सेवन करने से अनंत सूक्ष्म जीवों का घात होता हो वे सब कंदमूल अदरक (मूली आदि) नवनीत (मक्खन) नीम के फूल केतकी आदि का भी त्याग कर देना चाहिए ।

अहिंसा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए यह आवश्यक है कि व्रती त्रस जीवों की रक्षा करने के साथ-साथ एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का भी घात न करें । यदि प्रत्येक वनस्पति के सेवन का त्याग न कर सके तो कम से कम उस वनस्पति के सेवन का त्याग अवश्य करें जिसके एक शरीर में अनंत जीव स्वामी होते हैं । अदरक, मूली, आलू, गाजर, जमींकंद आदि ऐसी ही वस्तुएँ हैं ।

(८६)

व्रत का स्वरूप

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्य मेतदपि जह्यात् ।
अभिसंधि कृताविरतिर्विषयाद्योग्यात् व्रतं भवति ।।

अनुपसेव्य अथवा अनिष्ट हैं
अपनी प्रकृति विरुद्ध पदार्थ-
उन सब का परिहार सर्वथा
है अभीष्ट ही आत्म हितार्थ ।
किन्तु योग्य विषयों का भी जो
हो संकल्प सहित परिहार-
वही वस्तुतः व्रत कहलाता
कृश करने रागादि विकार ।।

भावार्थ– जो वस्तुएँ अनिष्ट हैं (अपनी प्रकृति और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं) तथा जो अनुपसेव्य (मल मूत्रादि सेवन करने योग्य नहीं) हैं उनका त्याग तो करना ही चाहिए, किन्तु जिन वस्तुओं के सेवन में कोई हानि या दोष नहीं है उन सेव्य वस्तुओं का भी – जो उनके सेवन करने का राग है उसे दूर करने के लिए – संकल्प पूर्वक त्याग करना यथार्थ में व्रत कहलाता है ।

व्रत धारण करने का मुख्य उद्देश्य राग द्वेषादि आत्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना है, अतः जिन वस्तुओं के सेवन में जीवों की हिंसा होती है, उनका त्याग करना तो मनुष्य का कर्तव्य ही है । अतः सर्व प्रथम उनका त्याग करते हुए एवं स्वयं को हानिकारक अनिष्ट पदार्थों का सेवन भी न करते हुए इन्द्रिय संयम पालन करने के अभिप्राय से अपन भोग योग्य इष्ट वस्तुओं का भी उनसे राग कम करने के लिए संकल्प पूर्वक (प्रतिज्ञा लेकर) त्याग करना चाहिए । यही व्रत कहलाता है ।

(८७)

भोगोपभोग परिमाण में यम नियम रूप
त्याग का विधान

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोग संहारे ।
नियमः परिमित कालो यावज्जीवन यमो ध्रियते ।।

नियम और यम रूप विहित है
भोग्य वस्तु का द्वय विध त्याग ।
समयावधि में त्याग नियम है–
यम यावज्जीवन परित्याग ।
यम नियमों के माध्यम से ही
भोगवृत्ति का कर अवसान–
बन परिपूर्ण जितेन्द्रिय ज्ञानी
हो समर्थ करने कल्याण ।।

भावार्थ– भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं का त्याग यम और नियम रूप दो प्रकार से किया जाता है। काल की मर्यादा से थोड़े समय के लिये किया गया त्याग नियम कहलाता है और जीवन पर्यंत के लिये किसी वस्तु के सेवन का त्याग करना यम कहलाता है।

इनमें मद्यमांसादि अभक्ष्य एवं अनिष्ट और अनुपसेव्य वस्तुओं का त्याग यम रूप एवं सेव्य वस्तुओं का त्याग नियम रूप में किया जाता है।

(८८–८९)

किन वस्तुओं का किस प्रकार त्याग
नियम कहलाता है ?

भोजन वाहन शयन स्नान पवित्रांग राग कुसुमेषु- ।
ताम्बूल वसन भूषण मन्मथ संगीत गीतेषु ।
अद्य दिवा रजनीं वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनंवा ।
इति काल परिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ।

भोजन वाहन शय्या आसन-
स्नान कुसुम उवटन वा गीत-
वस्त्राभूषण कुमकुम लेपन,
इत्र पान मन्मथ संगीत
दिवस रात्रि वा पक्ष ऋक्ष ऋतु-
मास वर्ष सीमा निर्धार-
विषयों का उपभोग त्यजन ही-
नियम कहा जिन सूत्र मँझार ।।

भावार्थ– मैं आज या अमुक समय तक भोजन नहीं करूँगा, अमुक सवारी का उपभोग करूँगा शेष का त्याग करता हूँ, अमुक शय्या (पलंग आदि) को छोड़ शेष का त्याग करता हूँ, इसी प्रकार स्नान या उबटन केवल एक बार करूँगा अमुक २ फूलों के सिवाय कोई फूल नहीं सूँघूँगा या बिलकुल नहीं सूँघूँगा, पान एक बार या दो बार से ज्यादा नहीं खाऊँगा, अमुक वस्त्रों और आभूषणों के सिवाय आज अन्य वस्त्राभूषणों का त्याग करता, हूँ काम सेवन आज या अमुक दिन तक नहीं करूँगा, गायन संगीत या गीत आदि एक या दो सुनूँग या एक भी नहीं सुनूँगा–इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषयों का दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, षण्मास, एक वर्ष आदि काल की सीमा बाँधकर त्याग करना नियम कहलाता है ।

(९०)

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतीचार

विषय विषतोऽनुपेक्षास्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवो।
भोगोपभोगपरिमा – व्यतिक्रमाः पंच कथ्यंते ॥

विषय विषों का आदर करना-
भुक्तभोग संस्मरण सराग।
वर्तमान में भोगातुरता
भावी भोगों प्रति अनुराग ॥
भोग बिना ही विषय अनुभवन-
मन में करना विविध प्रकार-
ये भोगोपभोग व्रत के हैं-
सूत्र विहित पंचातीचार ॥

भावार्थ– (१) इन्द्रियों के विषयों में–जो विष के समान हैं, लगाव (दिलचस्पी) रखना। (२) पूर्व काल भोगे गये विषयों का बारंबार स्मरण करना। (३) वर्तमान में भोगों को आसक्ति पूर्वक भोगना। (४) भविष्य में भोग भोगने की तृष्णा बनाए रखना। (५) भोगों को न भोगते हुए भी भोग भोगने जैसा अनुभव करना। ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतीचार हैं।

अथ पंचमोऽध्याय:

(९१)

शिक्षाव्रत

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा–
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥

साधु धर्म शिक्षा संपादित-
होती हो जिस व्रत के द्वार-
वह शिक्षाव्रत कहलाता है-
प्रमुख भेद हैं जिसके चार
सर्व प्रथम देशावकाश है-
तदनंतर सामायिक सार-
प्रोषध सह उपवास अन्त में-
वैयावृत्य नाम निर्धार ॥

भावार्थ– जिन व्रतों के परिपालन से श्रावक को साधु-व्रतों (महाव्रतों) के धारण करने की शिक्षा मिलती है (अभ्यास होने लगता है) उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। वे शिक्षाव्रत संख्या में चार हैं–

(१) देशावकाशिक (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास (४) वैयावृत्य ।

राग द्वेष का परिपूर्ण विनाश महाव्रतों के द्वारा ही संभव है; किन्तु जो महाव्रतों के धारण करने में असमर्थ हैं उन्हें अभी अणुव्रत धारण करना चाहिए और अपना लक्ष्य महाव्रतों के धारण करने का बनाए रहकर गृहवास करते हुए उन (महाव्रतों) का अभ्यास करना चाहिए जो इन शिक्षाव्रतों के द्वारा भलीभाँति संभव है ।

(९२)

देशावकाशिक व्रत

देशावकाशिकं स्यात्काल परिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रति संहारो विशालस्य ॥

दिग्व्रत में जो दश दिक् सीमा
निश्चित की जीवन पर्यंत।
वह भी प्रतिदिन सीमित करना
काल विभाग द्वार अत्यंत-
यह देशावकाश संज्ञक व्रत-
पापों का कर उपसंहार-
जीवन में बहुशः कृश करता-
राग द्वेष परिणाम विकार ॥

भावार्थ— दिग्व्रत में निश्चित की गई दशों दिशाओं की विस्तृत सीमा को प्रतिदिन काल के विभाग से कम कर लेना ही अणुव्रती श्रावक का देशावकाशिक व्रत कहलाता है।

दिग्व्रती गृहस्थ प्रतिदिन उपनी विशाल सीमा को समय विभाग से संकोच कर उससे बाहर उतनी देर के लिए न तो किसी से सम्पर्क रखता है और न उसकी सीमा बाहर किसी प्रकार की कषाय या पाप करने की प्रवृत्ति ही करता है। उसका यह व्रत ही देशावकाशिक या देशव्रत नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है।

(९३-९४)

देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र व काल संबंधी
मर्यादा करने की विधि

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्र नदी दावयोजनानां च-
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोबृद्धाः ।
संवत्सरमृतुरयनं मास चतुर्मास पक्ष-मृक्षं च,
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ।

अमुक ग्राम गृह गली नगर वन
योजन गिरि-सरिता पर्यंत-
गमनागमन प्रमाण देशव्रत-
विधि दरशायी श्री भगवंत ।
क्षेत्रों की मर्याद-वर्ष, ऋतु-
पक्ष, मास, नक्षत्र प्रमाण ।
यथा योग्य देशावकाश में-
हैं करणीय विहित मतिमान् ।।

भावार्थ- भगवान ने देशावकाशिक व्रत की क्षेत्र-काल संबंधी मर्यादा अमुक गृह, गली ग्राम, क्षेत्र, नदी, वन, अथवा योजन के माध्यम से एक वर्ष, अमुक ऋतु, छह मास, एक मास, चतुर्मास, एक पक्ष या अमुक नक्षत्र के उदय तक अपनी इच्छानुसार कर लेना निरूपित किया है अर्थात् "मैं आज या एक मास तक अपने नगर से बाहर नहीं जाऊँगा अथवा एक वर्ष तक अपने प्रांत के बाहर नहीं जाऊँगा और आज अपने घर से बाहर नहीं जाऊँगा," इस प्रकार दिग्व्रत की सीमा को कम करना देशावकाशिक व्रत कहा गया है ।

(९५)

देशावकाशिक व्रत से लाभ

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर पंचपाप संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥

सीमा प्रतिदिन कम करने का
होता है यह शुभ परिणाम-
स्थूल सूक्ष्म पापों से सहज हि-
पाता मुक्ति व्रती निष्काम ।
पंच महाव्रत संसाधित हों-
यों प्रवीण ! इस व्रत के द्वार
राग द्वेष कृश कर मानव मन
पाता है सुख शाँति अपार ॥

भावार्थ— दिग्व्रत की विशाल सीमा को देशावकाशिक व्रत द्वारा और भी कम किया जाता है जिससे सीमा बाहर न जाने के कारण स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के पापों का सीमित समय तक त्याग हो जाने से महाव्रतों की साधना सहज ही संभव हो जाती है और राग द्वेष में कमी हो जाने से मन में अत्यंत ही शाँति एवं निराकुलता का अनुभव होता है ।

(९६)

देशावकाशिक व्रत के अतीचार

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पंच ॥

हैं देशावकाश व्रत के यों-
सूत्र विहित पंचातीचार ।
सीमा बाहर स्वयं न जाकर
संप्रेषण करना पर द्वार ॥
इष्ट वस्तुओं का मँगवाना-
अथवा करना वचनालाप-
प्रस्तरादि प्रक्षेपण करना
या रूपाभिव्यक्ति चुपचाप ॥

भावार्थ– (१) मर्यादा की सीमा के बाहर कोई वस्तु भेजना । (२) सीमा के बाहर खड़े हुए व्यक्ति से बातचीत करना । (३) सीमा बाहर से कोई वस्तु मँगवाना । (४) सीमा बाहर न जाकर अपना रूप आदि दिखाकर संकेत करना । (५) सीमा बाहर कंकड़ पत्थरादि फेंक कर इशारा करना या पत्र तार आदि भेजना । ये पांच देशावकाशिक व्रत के अतीचार हैं ।

(९७)

सामायिक का लक्षण

आसमय मुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेष भावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ।।

सामायिक है – मन वच तन से
कृत कारित अनुमोदन द्वार ।
नियत समय पर्यंत पंच-
पापों का कर सम्यक् परिहार-
आत्म स्वरूप सुचिंतन पूर्वक
आर्त्त रौद्र तज द्वय दुर्ध्यान-
सुस्थिर मन कर साम्य ग्रहण कर
करना स्वानुभूति रसपान ।।

भावार्थ– प्रतिदिन प्रातः सायं मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से नियत समय तक (दो चार या छह घड़ी पर्यंत) हिंसादि पांचों पापों का मर्यादा के भीतर और वाहर त्याग करना (तथा आत्मा और परमात्मा का ध्यान करते हुए समता भाव पूर्वक स्वानुभूति में रमण करना) सामायिक है।

इस व्रत के द्वारा श्रावक थोड़ी देर के लिए मुनि के समान समस्त पापों का त्यागी बन व राग द्वेष को समस्त वस्तुओं से त्याग कर आत्म-ध्यान करने का अभ्यास करता है ।

(९८-९९)

सामायिक की विधि व स्थान निर्देश

मूर्ध्वरुह मुष्टिवासो बन्धं पर्यंक बंधनं चाऽपि-
स्थानमुपवेशनं वा समय जानन्ति समयज्ञाः।
एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे बनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥

मस्तक केश मुष्टि वस्त्रों वा
पर्यंकासन - बन्ध, स्थान-
एवं स्वात्म स्वरूप आदि का-
सामयिकी करता परिज्ञान।
रह प्रसन्न चित मंदिर मठ या
सर तट वन गिरि गुहा प्रशांत-
वातावरण मध्य सामायिक
है करणीय निरख एकांत ॥

भावार्थ– सामायिक करने के लिए साधक यह जानते हैं –कि उस समय मस्तक के केश तथा हाथों की मुष्टियों और पहिने हुए वस्त्रों को किस भांति बांधना, और पर्यंकासन (पलोथी मारना) तथा किस स्थान पर बैठना चाहिए । यह इसलिये कि जिससे सामायिक करते समय वस्त्रादि इधर उधर न उड़ें ।

सामायिक अत्यंत प्रसन्न चित्त से विघ्न बाधा रहित एकांत स्थान में करना चाहिए–चाहे वह वन हो या मकान हो अथवा चैत्यालय या नदी सरोवरादि का तट हो या कोई गुफा हो ।

(१००)

एकासन या उपवास के दिन सविशेष
रूप में सामायिक करने की प्रेरणा

व्यापार वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्म विनिवृत्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैक भुक्ते वा ॥

प्रोषध वा उपवास दिवस में-
तज समस्त ऐहिक व्यापार
सामायिक संबर्द्धनीय है-
तज संकल्प विकल्प–विकार
परमातम को ध्यावे रुचि से,
जो है शाश्वत सच्चिद्रूप-
रागादिक से भिन्न सर्वथा
पावन परमानंद स्वरूप ॥

भावार्थ– शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाओं एवं गृह के व्यापारों से विमुख होकर इन्द्रियों और मन के विविध संकल्प विकल्पों का परित्याग कर उपवास या एकासन के दिन सामायिक का विशेष रूप में संबर्द्धन करते हुए परमात्मा का, जो कि ज्ञानानंद स्वरूप शाश्वत रागादि विकारों से रहित है, ध्यान करना चाहिए ।

(१०१)

सामायिक प्रतिदिन करने की
आवश्यकता–

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् ।
व्रत पंचक परिपूरण कारणमवधान युक्तेन ।

सामायिक प्रति दिवस यथावत्
है करणीय गृही के द्वार-
आलस तज सोत्साह नियम से-
सकल संग-ममता परिहार ।
यत सकल सावद्य योग का
इसमें होता प्रत्याख्यान-
पंच व्रतों के परिपूरण का
अतः हेतु यह सर्व प्रधान ।।

भावर्थ–सामायिक प्रतिदिन आलस्य रहित होकर सोत्साह सावधानी पूर्वक करना चाहिए, क्योंकि मन लगाकर यथावत् सम्पन्न की गई सामायिक पंच महाव्रतों की पूर्ति का कारण है–इसमें प्रतिदिन प्रातः सायं थोड़े समय के लिए मन वचन काय एवं कृत कारित अनुमोदना से किया गया सम्पूर्ण पापों तथा विषय कषायों का त्याग श्रावक को भविष्य में पापों का सर्वथा त्याग करने के लिए अभ्यास के रूप में परम सहायक हो जाता है ।

करणीय = करने योग्य । सोत्साह = उत्साह पूर्वक । सावद्य = पापमयी

(१०२)

सामायिक का महत्व

सामयिके सारंभाः परिग्रहा नैव संति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्ट मुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥

सामायिक में नहिं रहता है-
बाह्य परिग्रह विविध प्रकार-
पापारंभ क्रियाएँ एवं-
अंतरंग रागादि विकार ॥
साम्यभाव आराधक साधक-
हो परमात्मा ध्यान संलीन-
अतः वस्त्र उपसृष्ट साधु सम
व्यवहृत हो यतिभाव विलीन ॥

भावार्थ— सामायिक करते समय अणुव्रती श्रावक के न तो किसी प्रकार का आरंभ व बाह्य परिग्रह होता है और न अंतरंग में राग द्वेषादि विकार ही बुद्धिपूर्वक हुआ करते हैं, केवल धर्म ध्यानी होने से उसके भावों में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है उससे उसको उपसर्ग में वस्त्र से ढके हुए निर्ग्रंथ मुनि (साधु) के समान पवित्र भावों वाला कहा गया है।

साधु निष्कषाय और निष्पाप होते हैं, अतः ध्यानारूढ़ साधु को यदि कोई व्यक्ति वस्त्राच्छादित करदे, तौभी वे आंतरिक ममत्व भावों से शून्य होने के कारण रागी नहीं बन जाते, उसी प्रकार श्रावक भी जब सामायिक करता है, तो थोड़ी देर के लिए यतिभाव को (मुनि के समान वैराग्य को) प्राप्त हो जाता है।

उपसृष्ट = ढाके गये

(१०३)

सामायिक में विघ्न बाधाओं के आने पर अटल रहने का उपदेश

शीतोष्ण दंशमशक परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचल योगाः ।।

दंशमशक शीतोष्ण परीषह
या बाधा आये तत्काल
अथवा हो उपसर्ग अन्य कृत-
सामयिकी धर धैर्य विशाल-
वहन करै सब कष्ट सुदृढ़ बन
मन वच तन निश्चल कर मौन ।
बाधाओं से विचलित होकर
इष्ट सिद्धि कर सकता कौन ?

भावार्थ– एकांत, निरापद, ध्यान में सहायक–सामायिक करने के अनुकूल स्थान में सामायिक प्रारंभ कर देने पर यदि सामायिक के काल में शीत या उष्ण की परीषह (दुख) उपस्थित हो– मच्छारादि काटने लगें या कोई अन्य दुष्ट मनुष्य कृत उपसर्ग (आक्रमण आदि) किया जाने लगे तो साधक को मौन पूर्वक उसे मन वचन काय को स्थिर रखकर दृढ़ता के साथ उस पर ध्यान न देते हुए सहन करना चाहिए–अपने लक्ष्य से विचलित न होकर उस पर विजय प्राप्त करना चाहिए ।

दंशमशक = मच्छरादि का काटना ।

(१०४)

सामायिक में क्या विचार करना चाहिये ?

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥

यह संसारावास वस्तुतः
दुखद और पर है साकार ।
कोई शरण न है जीवन में-
महा अशुभ है यह निःसार ॥
हैं नश्वर सब ठाठ यहाँ के-
यौवन तन धन जन परिवार ।
शाश्वत, शरण, सुखद, शुभ, केवल-
स्वपद मुक्ति ही है अविकार ॥

भावार्थ- सामायिक करते समय ऐसा ध्यान करना चाहिए कि यह संसार, जहां मैं अनादिकाल से निवास कर रहा हूं, अशरण रूप है—यहां न तो कोई मृत्यु से बचा पाता है और न नाना प्रकार के आधि व्याधि जन्म दुखों से । इसके सिवाय यहाँ शुभ रूप भी कुछ नहीं है—निरन्तर अशुभ पापों का बंध कर उनके अशुभ फलों को योनियों में जन्म मरण आदि कर भोगता हुआ यह आत्मा कर्मों के अधीन पर वश हो रहा है, यद्यपि यहां शुभ कुछ नहीं है, फिर भी भ्रमवश जिन वस्तुओं और भोगों को यह जीव शुभ मान रहा है उनका यदि पुण्य कर्म के उदय से संयोग भी हो जाय तो वह स्थायी न होकर क्षण भंगुर है, आयु, काय एवं अन्य वस्तुओं और देवादि गतियों का संयोग तथा इन्द्रियों के विषय भोग-सभी तो नाशवान् हैं, फिर सिवाय दुख के इसमें सुख का कहीं भी ठिकाना नही है, सर्वत्र जीव आकुल व्याकुल दुखी ही दिखाई देते हैं । इसके सिवाय यह संसार अपना न होकर पर रूप भी है । सिवाय आत्मा के यहाँ अपना कोई भी नहीं है । जबकि मोक्ष ठीक इसके विपरीत है - वह जीव का संरक्षक है, शुभ है,,शाश्वत है, सुखमय है, और अपनी आत्मा की ही शुद्ध अवस्था होने से आत्मीय है ।

ऐसा चिंतन आत्मा को वैराग संबर्द्धन में परम सहायक होता है ।

(१०५)

सामायिक के अतीचार

वाक्काय मानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामायिकस्यातिगमाः व्यज्जन्ते पंच भावेन ॥

रुचि विहीन सामायिक करना-
उचित न करते तत्सम्मान ।
मंत्र पाठ विस्मरण, चित्त-
चञ्चलता युक्त बनाना म्लान ।।
काया को सुस्थिर नहिं रखना-
मुख से करना वार्तालाप ।
दूषित करते सामायिक व्रत
उपर्युक्त सब क्रिया कलाप ।।

सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतीचार हैं :-

(१) मन को स्थिर न रखना । (२) वचन को स्थिर न रखना । (वचनालापादि करना) (३) काय को स्थिर न रखना, मच्छरादि को हाथ से भगाना या आसन चल विचल करना । (४) सामायिक का अनादर करना—रुचि पूर्वक उत्साह के साथ न कर बेगार के समान करना । (५) मंत्र-पाठ आदि विस्मरण करना ।

(१०६)

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ।।

असन पान आस्वाद्य लेह्य हैं–
भोज्य वस्तुएँ चार प्रकार–
चतुर्दशी– अष्टमी पर्व में–
इन सबका करना परिहार।
विषय कषायारंभ त्याग पुनि
धर्म ध्यान में रहना लीन।
यह–प्रोषध उपवास सुव्रत है–
शुचि संयम साधन शालीन ।।

भावार्थ– प्रत्येक चतुर्ददशी और'अष्टमी को (१) असन (भोजन-रोटी दाल भात आदि। (२) पान (दूध पानी पीने की वस्तुएँ) (३) स्वाद्य (स्वादिष्ट मिठाई आदि शौक से खाने की वस्तुएँ) और (४) लेह्य (रवड़ी, श्रीखंड. चटनी आदि चाट कर खाने योग्य पदार्थ) इन चारों ही प्रकार के आहारों का स्वेच्छा से त्याग कर विषय कषायों से दूर रहते हुए धर्म साधन करना प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत है।

विषय, कषाय तथा गृहारंभ, परिग्रह का त्याग न करते हुए अथवा अपना समय धर्म ध्यान में न लगाते हुए केवल भोजन न करना तो लंघन के समान है।

★ कषाय विषयाहार–त्यागो यत्र विधीयते ।
सोपवासस्तु ज्ञातव्यः शेषं लंघनकं विदुः ।।

(१०७)

उपवास के दिन निषिद्ध कार्य

पंचानां पापानामलंक्रियारंभ गंध पुष्पाणाम् ।
स्नानाऽञ्जन नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ।।

हिंसादिक पांचों पापों वा
गृहारंभ, शृंगार, स्नान,
अंजन, मंजन, गंध, पुष्प-
संगीत, नृत्य सह वादन गान-
सर्वेन्द्रिय विषयों से विरहित-
प्रोषध है करणीय प्रवीण !
राग द्वेष परणतियाँ जिसमें
हो जाएँ जीवन में क्षीण ।।

भावार्थ– उपवास के दिन, पाँचों पापों के परिपूर्ण त्याग के साथ २ शरीर का शृँगार, गृहस्थी के आरंभ, सुगन्धित वस्तुएँ–पुष्प, स्नान, अंजन सूंघनी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना चाहिए ।

(१०८)

उपवास के कर्तव्य

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान-ध्यान परो वा भवतूपवसन्नतंद्रालुः ।।

हो सतृष्ण उपवास कर गृही
स्वयं करे धर्मामृत पान ।
अन्य जनों को भी करवाये-
तज तन्द्रादि दोष मतिमान् ।
सुस्थिर मन परमात्म्य तत्व के-
आराधन में हो संलीन
सम्यक्ज्ञान समृद्धि बृद्धि हित-
शास्त्राभ्यास करे शालीन ।।

भावार्थ– उपवास के दिन निद्रा तन्द्रा प्रमादादि से वचते हुए अपने कर्णों से धर्म-रूपी अमृत का पान स्वयं करना चाहिए (धर्मोपदेश सुनना चाहिए) तथा अन्य जनों को भी कराना चाहिए । अथवा गुरुजनों के समीप या अकेले ही ज्ञान का अभ्यास एवं आत्मा तथा परमात्मा के ध्यान में लीन रहना चाहिए ।

(१०९)

प्रोषध, उपवास एवं प्रोषधोपास का लक्षण

चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ॥

चतुराहार विसर्जन पूर्वक-
धर्माराधन है उपवास ।
एक बार भोजन प्रोषध है-
बन कषाय वा विषय उदास ॥
दो प्रोषध के बीच व्रती जब
करता है निर्मल उपवास ।
श्री जिनेन्द्र ने उस व्रत को ही
संज्ञा दी प्रोषध उपवास ॥

भावार्थ– चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना उपवास कहलाता है, दिन में केवल एक बार भोजन पान करना प्रोषध और दो प्रोषधों के बीच एक उपवास करना प्रोषधोंपवास कहा गया है । जैसे सप्तमी को एकासन, अष्टमी को उपवास एवं नवमी को पुनः एकासन करके धर्म ध्यान में समय विताना प्रोषधोपवास है ।

(११०)

प्रोषधोपवास के अतीचार

गृहण विसर्गास्तरणान्यदृष्ट मृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास ब्यतिलंघन पंचकं तदिदम् ॥

जीव जन्तु संरक्षण पर नहिं-
देते हुए तनिक भी ध्यान-
उपकरणादि उठाना धरना
संस्तरणादि बिछाना तान।
व्रत का उचित समादर नहिं कर
किंचित् भी करना अपमान।
व्रत कर्तव्य विस्मरण करना
ये दूषण हैं पंच प्रधान॥

भावार्थ- (१) पूजनादि धार्मिक क्रियाओं को करते हुए बिना देखे शोधे वस्तुओं को उठाना या काम में लाना। (२) बिना देखे शोधे वस्तु रखना। (३) आसन बिस्तर आदि बिना देखे बिछाना। (४) व्रत को उत्साह के साथ न कर अनादर पूर्वक करना। (५) प्रोषधौपवास के नियमों और कर्तव्यों को भूल जाना। ये पांच प्रोषधोपवास के अतीचार हैं।

(१११)

वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग)

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥

व्रत है वैयावृत्य– कि सम्यक्
दर्शन ज्ञान चरित्र निधान-
गृह विमुक्त निर्ग्रंथ श्रमण हित
भक्ति पुरस्सर देना दान।
अथवा धर्म बुद्धि से उनका
संपादन करना उपकार।
प्रतिफल की कुछ चाह न करते-
तन मन धन वैभव के द्वार ॥

भावार्थ– गृहत्यागी, श्रद्धा ज्ञान और वैराग्य के धनी, निर्ग्रंथ तपोधनों (मुनिराजों) को तन मन धन से यथा परिस्थिति–धर्मार्थ, विना प्रतिफल की इच्छा के दान करना वैयावृत्य नाम का शिक्षाव्रत है।

(११२)

वैयावृत्य के अन्य प्रकार

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ।।

संयम साधक साधुजनों की
सब विपत्तियाँ करना दूर ।
सुश्रूषा करना सुभक्तियुत्
बन गुणानुरागी भरपूर ।।
मार्ग जनित श्रम खेद मिटाना
पगचंपी करना या अन्य-
जो भी सेवा सुसंपन्न हो-
वैंयावृत्य सुव्रत है, धन्य !

भावार्थ– संयमी पुरुयों पर आयी हुई विपत्तियों को तन मन धन से दूर करना, गुणानुराग पूर्वक (उनके मार्ग जनित श्रम की थकावट को दूर करने के अभिप्राय से) पगचंपी करना (पैर दबाना) तथा अन्य भी जो समयानुसार उनकी सेवा संपन्न की जाती है वह सब वैंयावृत्य है । साधु-सेवा अनेक प्रकार से की जा सकती है । उनके ज्ञान-ध्यान और तप में सहायता के साधन जुटाना तथा विघ्न बाधाओं को दूर करना, रुग्णावास्था (बीमारी) में तत्काल– जिस प्रकार सेवा अपेक्षित हो उसमें जुट जाना इसी व्रत का अंग है ।

(११३)

वैयावृत्य में आहार दान की विधि

नव पुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्त गुण समाहितेन शुद्धेन-
अपसूनारंभाणा - मार्याणामिष्यते दानम् ॥

श्रद्धा भक्ति तुष्टि शम क्षमता
मन अलुब्धता वर विज्ञान ।
गुण विशिष्ट दातार जनों कर
समुचित नवधा भक्ति प्रमाण-
आरंभादिक अघ परिहारी
साधुजनों को सह सम्मान
दान कहा जाता त्रिशुद्धियुत्
करना आहारादि प्रदान ॥

भावार्थ– उल्लिखित श्रद्धा आदि सप्त गुणों से विशिष्ट दातार द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक पंचसूना आदि विविध आरंभादि पापों के त्यागी साधुपुरुषों को मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक जो आहारादि प्रदान किया जाता है उसे दान कहते हैं।

★ पंच सूना–(१) कूटना (२) पीसना (३) चूल्हा जलाना (४) बुहारी करना (५) पानी भरना ।

★ नवधा भक्ति–(१) प्रतिग्रहण (आदर से बुलाना) (२) उच्च स्थान देना (३) चरण धोना (४) पूजन करना (५) प्रणाम करना (६) मन शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि (९) आहार शुद्धि

★ दातार के सात गुण–श्रद्धा, भक्ति, संतोष, साम्यभाव, क्षमता, उदारता (कृपणता का अभाव) और विज्ञान ये सात दातार के गुण हैं ।

(११४)

दान का फल

गृह कर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्-
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ।।

जिस घर अहा ! अतिथि आजायें-
गृह विमुक्त मुनिराज महान ।
धन्य ! गृही वह जो सुभक्ति युत्
करता आहारादि प्रदान ।।
उस के गृह कार्यों में संचित
हो जाएँ सब पाप विलीन ।
ज्यों बन जाए शुद्ध सलिल से
रक्त सना भी वस्त्र मलीन ।।

भावार्थ- गृह विमुक्त निर्ग्रंथ (साधुओं) अतिथियों की श्रद्धा भक्ति पूर्वक की गई उपासना और दान गृहस्थियों के गृह कार्यों में संचित पापों को धो डालता है जैसे रक्त (खून) में सने वस्त्र को निर्मल जल धोकर पवित्र कर देता है ।

असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और सेवा ये छह गृहस्थियों के जीविका संबंधी कर्म हैं इनके करने में गृहस्थियों को जो अपने भावों में राग द्वेष द्वारा पाप कर्म का संचय होता है वह भक्ति एवं त्याग की भावना पूर्वक दिया गया पात्र दान और अतिथि सत्कार एवं सेवा के प्रसाद से सहज ही धुल जाता है। इससे गृहस्थ को सांसारिक राग क्षीण होता है और धर्म के साथ यश में भी बृद्धि होती है।

(११५)

वैयावृत्य से अन्य अनेक लाभ

उच्चैर्गोत्रं प्रणते - र्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दर रूपं स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥

निर्विकार निर्ग्रंथ तपोधन
प्रति करने से नम्र प्रणाम-
पावन कुल में जन्म, दान से-
इष्ट प्राप्ति, संस्तव से नाम-
निस्पृह भक्ति द्वार मानव कुल-
बन रहता सौन्दर्य निधान ।
वर उपासना कर पाता है
अनुक्रम पावन पद निर्वाण ॥

भावार्थ– तपोधनों (मुनिराजों) को प्रणाम करने से उच्च गोत्र में जन्म, दान देने से मनोवांछित भोगोपभोगों तथा उपासना करने से प्रतिष्ठित पद (अर्हंतादि) की प्राप्ति, एवं भक्ति करने से यशःकीर्ति में वृद्धि हुआ करती है।

(११६)

पात्रदान की महिमा

क्षितिगतमिव वट बीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥

ज्यों उर्वरा भूमि में पड़कर
लघु भी वट का बीज महान-
तरु बन छाया रूप फलित हो,
त्यों अणुमात्र पात्र में दान-
यथा समय बहु मिष्ट फलों को
करता है स्वयमेव प्रदान।
सुरतरु मांग किये फल प्रद हो,
बिन मांगे पात्रों में दान ॥

भावार्थ– जिस प्रकार बट का बीज-जो बहुत छोटा होता है- उपजाऊ भूमि में पड़कर या बोया जाकर एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर असंख्य लोगों को शीतल छाया प्रदान करता है उसी प्रकार सत्पात्रों में दिया गया थोड़ा सा भी दान भोगभूमि या स्वर्ग में उत्तमोत्तम फलों को प्रदान करता है।

(११७-११८)

वैयावृत्य के भेद और उनमें प्रसिद्ध व्यक्ति

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥
श्रीषेण वृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टांताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥

चार दान में संविभक्त है—
वैयावृत्य जिनागम द्वार—
औषधि शास्त्र अभय वा विधिवत्
पात्रों को देना आहार।
पूर्व काल में भक्ति पुरस्सर
पात्र दान कर सूत्र प्रमाण—
ख्यात हुए श्रीषेण वृषभ—
सेना शूकर कौण्डेश स-मान ॥

भावार्थ— चार ज्ञान के धारक गणधरदेवों ने आहार, औषधि, ज्ञान (शास्त्र) एवं आवास दान के रूप में वैयावृत्य को चार भागों मे विभक्त किया है। इनमें से आहार दान में श्रीषेण नाम का राजा, औषधि दान में वृषभ सेना, शास्त्र दान में कौण्डेश और आवास दान (अभयदान) में एक शूकर प्रसिद्ध हुए हैं।

(११९)

जिनेन्द्र पूजन भी वैयावृत्य का अंग है

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्व दुःख निर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥

हैं सुसेव्य देवाधिदेव जो
विभुवर वीतराग भगवान् ।
उनके चरणों की परिचर्या–
भी हैं वैयावृत्य प्रधान ।
कामादिक वारण कर करती–
जो बाँछित सुख शाँति प्रदान ।
वह नित प्रति करणीय अतः है
भक्ति पुरस्सर दे बहु मान ॥

भावार्थ– वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्रदेव की-जो देवादिदेव कहलाते हैं–चरण सेवा-पूजा भक्ति गुणस्तवन आदि करने से सम्पूर्ण दुःखों एवं कामादि विकारों का तत्काल नाश होकर बांछित सुख एवं शांति की प्राप्ति होती है, अतः आदर पूर्वक उसे प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए ।

जिनेन्द्र भगवान को यद्यपि किसी की सेवा आदि किसी भी प्रकार अपेक्षित नहीं है; तौ भी हमें सेवा करने के लिए भगवान् से उत्तम कोई अन्य पात्र नहीं हो सकता, अतः देव पूजन को श्रावक के कर्तव्यों में भी प्रथम स्थान दिया गया है ।

(१२०)

जिनेन्द्र पूजन का माहात्म्य

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

प्रमुदित मन प्रभु पूजन करने—
भेक कुसुम ले किया पयान ।
राजगृही पथ में वह करि पग—
कुचल मर हुआ अमर प्रधान ॥

प्रभु उपासना भक्ति पुरस्सर
नित प्रति करते जो मतिमान् ।
निश्चित वे स्वर्गीय विभव सह
अनुक्रम पावें पद निर्वाण ॥

भावार्थ— राजगृह नगर में अत्यंत प्रसन्नता पूर्वक अपने मुँह में कमल पत्र को लेकर भगवान् महावीर स्वामी की पूजा करने के उद्देश्य से एक मेंढक जा रहा था; किन्तु वह अभी वहां पहुँचा भी नहीं था कि मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पग से कुचल कर मर गया और मर कर स्वर्ग में अद्भुत विभूति सम्पन्न देव हुआ- जिसने देव रूप में भगवान के समवसरण में जाकर उनकी पूजा की । सभा में उपस्थित जनों ने उसके देव होने की वार्ता सुन कर अत्यंत आश्चर्य के साथ प्रसन्नता व्यक्त करते उसे धन्य ! माना एवं अभिनंदन किया ।

(१२१)

वैयावृत्य के अतीचार

हरित पिधान निधाने-ह्यनादरास्मरण मत्सरत्त्वानि ।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यंते ॥

हरित पात्र में देय वस्तु रख—
वा ढक कर देना मुनिदान ।
अतिथिदान या व्रत विधान का
किंचित् भी करना अपमान ॥
दान-समय-विधि विस्मृत करना—
चित चंचल रख या कि अशांत ।
अन्य दातृ प्रति ईर्ष्या करना—
व्रत दूषण ये त्याज्य नितांत ॥

भावार्थ— (१) सचित्त वस्तुओं के सेवन के त्यागी पात्रों को सचित्त वस्तुओं (हरे पत्तों) से ढका हुआ भोजन देना । (२) हरे पत्तों में रखा हुआ भोजन देना । (३) पात्रों का यथोचित आदर न करना या वैयावृत्य करने में अनुत्साहित होना । (४) दान का समय और उसकी विधि भूल जाना । (५) अन्य दातारों से मात्सर्य (ईर्ष्या या जलन) करना, ये पांच वैयावृत्य के अतीचार हैं ।

इस प्रकार निरतिचार शिक्षाव्रतों का परिपालन करते हुए गृहस्थ घर में रहते हुए भी मुनिव्रतों के पालन करने का अभ्यास करता है ।

इति पंचमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

(१२२)

सल्लेखना (समाधिमरण) का लक्षण

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचन- माहुः सल्लेखनामार्याः ॥

हो नहिं प्रतीकार कुछ जिसका-
यों आवे उपसर्ग महान-
या दुर्भिक्ष जरा रोगादिक
जीवन का करने अवसान ।
धर्म हेतु तब तन धनादि प्रति
तज कर सब रागादि विकार-
अपने प्राण विसर्जन करना
अंतिम व्रत सल्लेखन सार ।।

भावार्थ- जीवन में जब कोई ऐसा दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) रोग (व्याधि) आदि आजावे जिसके प्रयत्न करने पर भी दूर होने और अपने प्राण बचने की संभावना न दिखती हो तब धर्मार्थ सब वस्तुओं एवं बंधु-बांधवों से रागद्वेषादि का परित्याग कर अपने नश्वर शरीर व प्राणों का निराकुलता पूर्वक शांत भावों से विसर्जन करना ही सल्लेखना (समाधिमरण) नामक अंतिम व्रत है ।

(किन्तु क्रोध, मान, माया लोभादि कषाय के वश मृत्यु के पूर्व ही विष खाकर, अग्नि में जल कर, पानी में कूद कर, फाँसी लगाकर या अन्य किसी प्रकार अपने प्राणों का बल पूर्वक घात करना (आत्म हत्या करना) पाप है । इस प्रकार समाधिमरण व आत्म हत्या में महान अंतर है ।)

(१२३)

सल्लेखना की आवश्यकता

अंतःक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

सत्समाधि संपादित होना
आजीवन तप का फल मान–
संस्तवन करते हैं सुमृत्यु का
सर्वदर्शि जिनराज महान।
अतः शक्तिभर सत्प्रयत्न कर–
अंत समय तज भाव मलीन–
मरण समाधि प्राप्त करने का
करो प्रबल पुरुषार्थ, प्रवीण!

भावार्थ– भगवान् ने अंतिम क्रिया जो मरण-उसका सन्यास (समाधि) पूर्वक हो जाना ही आजीवन तपस्या करने का फल कहा है। क्योंकि जीवन भर तपस्या करते रहने पर भी यदि मरण समय भावों की पवित्रता नष्ट हो जाय तो सारी तपस्या निष्फल हो जाती है। अतः व्रती पुरुषों को समाधिमरण करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

जिन्होंने अपना जीवन धर्म की आराधना किये बिना ही बिता दिया हो; किन्तु अन्त समय विशुद्ध भावों के साथ उनकी मृत्यु हो जाये तो भी उनका जीवन सफल माना जाता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को शांत भाव से समाधि मरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे किसी ने परदेश में जाकर बहुत धन कमाया और जब घर लौटा तब रास्ते में ही अपनी असावधानी से गवां कर खाली हाथ घर लौटा तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया; किन्तु यदि किसी ने अपना जीवन परदेश में रहकर दरिद्रता में ही बिता दिया; किन्तु घर लौटते समय यदि थोड़ा बहुत ही धन कमा कर साथ ले आया तो उसका परिश्रम सार्थक हो जाता है, उसी प्रकार यहां समझना चाहिए।

(१२४)

समाधिमरण करने की विधि

स्नेहं बैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥

अंत समय संपादित होती
विधिवत् एवं परम समाधि–
सर्व प्रथम तज स्नेह बैर वा
अंतरंग बहिरंग उपाधि–
स्व पर जनों प्रति किये पूर्व में
जो अपराध जान – अनजान–
क्षमा कराये प्रिय वचनों से–
स्वयं करै - पुनि क्षमा प्रदान ॥

भावार्थ– सर्व प्रथम अपने कुटुम्बियों एवं संसार के समस्त प्राणियों से स्नेह और वैर (द्वेष) रूप अंतरंग एवं धन धान्यादि वहिरंग परिग्रह का परित्याग कर शुद्ध (निष्कपट) भाव से प्रिय वचनों द्वारा वहां विद्यमान तथा अविद्यमान समस्त जनों से अपने पूर्वकृत परिपूर्ण अपराधों पर क्षमा याचना करै और पूर्वकाल में दूसरों ने जो अपने प्रति अपराध किये हों उन्हें स्वयं ही क्षमा प्रदान करके अपनी आत्मा के भावों की शुद्धि करे ।

(१२५)

पुनश्च–

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरण स्थायि निःशेषम् ।।

पूर्व किये दुष्कर्म स्वयं जो–
कृत कारित अनुमोदन द्वार–
शुद्ध हृदय से पर्यालोचन
कर उनका बन विरत विकार।
पुनि आजीवन पाप पुंज का
पूर्णतया कर प्रत्याख्यान–
पंच महाव्रत दृढ़ प्रतिज्ञ बन
ग्रहण करै जिन सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ– सब से क्षमा याचना और सब को क्षमा प्रदान करने के पश्चात् अपने भूतकाल में कृत कारित अनुमोदनादि द्वारा किये गये सम्पूर्ण (सूक्ष्म और स्थूल) पापों की निष्कपट भाव से आलोचना करै। तत्पश्चात् आगामी (भविष्य में) परिपूर्ण पापों का दृढ़ प्रतिज्ञ बन त्याग कर पंच महाव्रतों को धारण करै ।

(पूर्व काल में गृहस्थ ने महाव्रतों को धारण करने की अपनी असमर्थता के कारण अणुव्रतों को ग्रहण कर श्रावक धर्म स्वीकार किया था, किन्तु उसका लक्ष्य तो यही था कि कब सम्पूर्ण पापों का त्याग कर महाव्रत ग्रहण करूँ। अतः जब कि मृत्यु मुँह बाये खड़ी है– अपने लक्ष्य को पूरा करने का अंतिम सुअवसर जान वह तुरन्त ही शुद्ध हृदय से महाव्रतों को धारण करै–इसी में अपने लक्ष्य की पूर्ति एवं मानव जीवन की सार्थकता है।

(१२६-१२७)

महाव्रत धारण करने के अनंतर-

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा-
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विबर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥

शोक विषाद अरति रति भय भ्रम
कालुष्यादिक तज मतिमान्-
आत्मिक बल सोत्साह प्रकट कर
रुचि से करै श्रुतामृत पान ।
अन्नाहार विसर्जन कर पुनि-
केवल करै दुग्ध का पान-
वह भी त्याग उष्ण जल पीकर
ही माने संतोष महान ॥

भावार्थ-महाव्रत धारण करने के पश्चात् शोक, भय, विषाद, राग, क्रोधादि कषाय, अरति आदि मानसिक विकारों पर आत्म बल से विजय प्राप्त करते हुए इन्द्रिय और मन को वश कर उत्साह के साथ श्रुत ज्ञान रूपी अमृत का जिनवाणी द्वारा पान करै। तथा-

सर्व प्रथम आहार (भोजन) का त्याग कर केवल दुग्ध (दूध) का सेवन कर कुछ दिन निर्वाह करै, पश्चात् दुग्ध का त्याग कर गर्म जल पर निर्भर रहे।

(१२८)

पुनश्च—

खरपान हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंच नमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्व यत्नेन ॥

पुनः उष्ण जल भी न ग्रहण कर
अनशन पूर्वक शक्ति प्रमाण-
पंच परम पद भक्ति पुरस्सर-
जीर्ण देह तज करै प्रयाण ॥
यों कषाय सह काय कृश करण
सल्लेखन व्रत है अम्लान।
मृत्यु अचानक आजाने पर
सब तज करै परम पद ध्यान ॥

भावार्थ— फिर अन्त में उष्ण जल का भी परित्याग कर अपने आत्म बल को प्रकट करते हुए उपवास धारण कर पंच नमस्कार मंत्र का पुनः २ स्मरण करते हुए शांत भाव से सावधानी पूर्वक शरीर का परित्याग करें।

यह सल्लेखना (समाधिमरण) की विधि प्रायः उन मनुष्यों के लिए है जिनको जीवन का अन्त निकट दिखने लगता है और कुछ दिन पूर्व मृत्यु का आभास होकर जीवन की रक्षा किसी प्रकार भी संभव दिखाई नही देती किन्तु यदि अचानक ही भीषण उपसर्ग या विकट परिस्थिति आजाय कि जिसमें तत्काल मरण होने लगे तो उस समय– जितने क्षण भी वह मृत्यु के पूर्व सचेत हो–तुरन्त ही अपनी मृत्यु निकट जान पापों और रागद्वेषादि विकारों का त्याग कर पंच नमस्कार मंत्र का पाठ– परमेष्ठियों के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करते हुए प्राण विसर्जन करें। आज कल प्रायः हार्ट फेल (श्वास गति निरोध) द्वारा जीवन का अंत हो जाता है, उस समय ज्यों ही जी घबराना प्रारंभ हो तुरन्त सावधान होकर पापों का त्याग कर परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब पहिले से इसका अभ्यास होगा। अतः जीवन का प्रत्येक क्षण भावों की पवित्रता और आत्म कल्याण की भावना रखते हुए बीतना चाहिए– ताकि समाधि मरण सरलता से संपन्न हो सके।

(१२९)

सल्लेखना के अतीचार

जीवित मरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥

सल्लेखन के पंच जिन कथित-
अतीचार हैं निम्न प्रकार-
अधिक दिनों जीने की बाछा-
शीघ्र मरणकांक्षा- संचार ॥
मृत्यु तथा परलोकजन्य भय
परभव भोग कामना भ्रांत-
अन्त समय मित्रादि संस्मरण-
द्वारा करना चित्त अशांत ॥

भावार्थ- (१) सल्लेखना व्रत धारण करने के पश्चात् कुछ अधिक दिनों जीने की बांछा करना । (२) उग्र वेदनादि होने पर शीघ्र मर जाने की भावना करना । (३) मृत्यु के पश्चात् परलोक में क्या होगा, आदि विचार कर भयभीत होना । (४) अपने मित्रों का राग पूर्वक स्मरण करना । (५) धर्म सेवन के उपलक्ष्य में परभव में इन्द्रादिपद या भोगोपभोगों की बांछा करना । ये पांच सल्लेखना के अतीचार हैं ।

(१३०)

सल्लेखना धारण करने का फल

निःश्रेय समम्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिवति पीतधर्माः सर्वैदुःखैरनालीढः ॥

अन्तस् में सम्यक् समाधि सज-
सुरुचि किये धर्मामृत पान-
संसृतिजन्य समग्र दुःखों का
हो जाये सत्वर अवसान ।
अतुल अभ्युदययुत श्रेयस्कर-
दुस्तर सुखसागर संलीन-
होकर जन निःश्रेयस पद पा
बन जाये सुस्थिर स्वाधीन ॥

भावार्थ– समाधिमरण धारण कर जिन्होंने धर्मामृत पान करते हुए आत्मा को पवित्र किया है वे स्वर्ग में अनुपम अभ्युदय के स्वामी वन कर अंत में सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो–जिसका कभी विनाश (अंत) नहीं ऐसे– अत्यंत दुर्लभ मुक्ति स्वरूप सुखसागर के पान में निमग्न होजाते है। अर्थात् समाधिमरण द्वारा अर्जित धर्म के प्रसाद से स्वर्ग के साथ अनुक्रम से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

(१३१+१३२)

निःश्रेयस का स्वरूप

जन्मजराभयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणंशुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ।।
विद्यादर्शनशक्ति स्वास्थ्य प्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ।।

जन्म जरा भय मरण व्याधि वा
दुःख शोक संक्लेश विहीन-
अविच्छिन्न अनुपम अनंत वर
सुख निःश्रेयस है स्वाधीन ।
वह असीम बल तृप्ति ज्ञान-
दर्शन समृद्धि का है भंडार ।
शुद्धि स्वास्थ्य प्रह्लाद निरतिशय
निरवधि सौख्य समन्वित सार ।।

भावार्थ– जो जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्णतया रहित है–ऐसा निरविच्छिन्न निराकुल नित्य सुख स्वरूप निर्वाण है वही 'निःश्रेयस' कहलाता है ।

विद्या (ज्ञान) दर्शन, शक्ति (वीर्य) स्वास्थ्य (वीतरागता) आह्लाद परिपूर्ण तृप्ति (विषय बांछा का अभाव) एवं शुद्धि (द्रव्यकर्म भावकर्मादि रहित) निर्मलता सहित, हीनाधिकता युक्त ज्ञान (क्षापोपशमिक ज्ञान) संबंधी कमी वेशी रहित-अनंत सौख्य में सदा के लिए जा वसते हैं ।

कुछ ऐसे भी मत हैं जो मानते हैं कि मुक्ति हो जाने पर आत्मा ज्ञान दर्शनादि गुणों से रहित हो जाता है । कोई मानता है कि वह शून्य में विलीन हो जाता है–दीपक की तरह बुझ जाता है । कुछ मनीषी यह भी कहते हैं कि कुछ काल के पश्चात् आत्मा मुक्ति से संसार में पुनः आकर जन्म मरण करने लगता है या ईश्वर उन्हें फिर संसार चक्र में परिभ्रमण करने के लिये भेज देता है; किन्तु जैन मान्यतानुसार मुक्तात्माएँ अनंत ज्ञान व अनंत सुख में सदा के लिए निमग्न हो जाती हैं । न तो वे शून्य में विलीन होती हैं और न उनके गुणों का ही अभाव होता है ।

(१३३+१३४)

निःश्रेयस की अन्य विशेषताएँ

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोक संभ्रांतिकरण पटुः ।।

निःश्रेयसमधिपन्नस्त्रैलोक्य शिखा मणिश्रियं दधते ।
निःकिट्टिकालिमाच्छविचामीकर -- भासुरात्मानः ।।

अखिल विश्व ध्वसंन समर्थ यदि-
समुत्पन्न भी हो उत्पात-
कर सकता न कल्पशत में भी
वह निःश्रेयस पर आघात ।।

कीट कालिमाहीन कनक ज्यों-
भासुर बन दिपता द्युतिमान् ।
त्यों त्रैलोक्य शिखामणि बन कर
दिपता नित निःश्रेयसवान् ।।

भावार्थ– विश्व में यदि कभी तीनों लोकों को उलट पलट देनें वाला उत्पात भी किसी समय हो तो भी वह मुक्ति को संप्राप्त जीवों में रंच मात्र भी विकार उत्पन्न करनें समर्थ नहीं हो सकता ।

वस्तुतः निःश्रेयस् को प्राप्त महापुरुष कीट कालिमा रहित शुद्ध स्वर्ण के समान दीप्तिमान् बन कर त्रैलोक्य शिखामणि की शोभा को प्राप्त होते हैं । अनवधि मुक्ति का यही स्वरूप है ।

(१३५)

धर्म सेवन का परिणाम

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल परिजन काम भोग भूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ।।

है माहात्म्य धर्म सेवन का
अद्भुत अतुल अचिन्त्य अनूप ।
अमित अभ्युदय स्वयं प्राप्त हो-
जिसके शुभ परिणाम स्वरूप ।।
इष्ट सिद्धि अनुपम समृद्धि सह-
पूजा, धर्म, अर्थ, सह काम-
बल परिजन भोगादि विपुलता
मुक्ति प्राप्ति हो, पुनि निष्काम ।।

भावार्थ– धर्म सेवन करने से प्रतिष्ठा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन, मनोवांछित विपुल भोगों के साथ २ लोकातिशायी (जैसे लोक में अन्य किसी के पास न हों ऐसे) अद्भुत अभ्युदय युक्त इन्द्रादि के उन्नतपद की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। एवं अनुक्रम से साक्षात् परमात्म्य पद भी प्राप्त हो जाता है।

इति षष्ठ अधिकारः

सप्तम अध्याय

(१३६)

श्रावकों के पदों का विवरण
(ग्यारह प्रतिमाएँ)

श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु-
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रम विवृद्धाः ॥

श्रावक एकादश श्रेणी में-
संविभक्त हैं सूत्र प्रमाण-
जिनमें क्रमशः राग द्वेष सह-
पापवृत्ति का हो अवसान ।
निम्न पदस्थ व्यक्ति जब करता
उच्च पदों में बन्धु ! प्रवेश-
तब तत्पदगत संबर्द्धित हों-
पूर्व गुणों सह गुण सविशेष ॥

भावार्थ– जिनेन्द्र भगवान ने श्रावकों के ग्यारह पदों का प्रतिपादन किया है जिनमें वह क्रमशः अपनी पूर्व में ली हुई प्रतिज्ञाओं एवं गुणों का संरक्षण करते हुए स्वीकृत पद के गुणों (व्रतों) का भी पालन करता है। इससे अगली २ प्रतिमा में पूर्व की प्रतिमा से अधिकाधिक पापों का ह्रास एवं चारित्र गुण का विकास होता जाता है।

वे ग्यारह प्रतिमाएँ (श्रेणियाँ) निम्न प्रकार हैं :–

(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत प्रतिमा (३) सामायिक (४) प्रोषध (५) सचित्त त्याग (६) रात्रिभोजन त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरंभ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

(१३७)

प्रथम दर्शन प्रतिमा

सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोग – निर्विण्णः ।
पंच गुरु चरण शरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥

सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है-
अंतरात्म जिसका निर्भ्रांत-
जल में भिन्न कमल सम रहता-
भव-तनु भोग विरत-चितशांत ॥
पंच परम पद शरण ग्रहण कर
हो जो दुर्व्यसनादि विहीन-
तत्व पथिक बस वही दार्शनिक-
श्रावक कहलाता शालीन ॥

भावार्थ– जिसकी आत्मा सम्यग्दर्शन से शुद्ध है व सम्यक्त्वाचरण करने से विशुद्ध है तथा जो संसार शरीर एवं भोगों से विरक्त है व जीवादि तत्वों का ज्ञान होने से जिसने यथार्थ में मोक्ष मार्ग को ग्रहण किया है वही पुरुष दर्शन प्रतिमा धारी दार्शनिक श्रावक कहलाता है ।

इस प्रतिमा का धारी वस्तु के स्वरूप को अनेकांतात्मक जानता एवं नयों के पक्षपात से शून्य होकर यथार्थ में श्रद्धान करता है और निःशंकितादि अष्ट अंगों को भलीभांति पालन करता हुआ तीन मूढ़ता व अष्टमदों और सप्त व्यसनों का त्यागी होकर संसार में उदासीन भाव से रहता है । वह अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधु इन पंच परमगुरुओं की शरण लेकर उनकी गुणानुरागवश भक्ति तथा उपासना में तत्पर रहता है ।

(१३८)

व्रत प्रतिमा

निरतिक्रमणमणुव्रत पंचकमपि शील सप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ।।

निरतिचार अणुव्रत धारण कर
सप्तशील सह जो मतिमान् ।
बन रहता निःशल्य निरंतर-
तज माया मिथ्यात्व निदान ।।
वह श्रावक व्रत प्रतिमा धारक
मान्य किया जिनराज, प्रवीण !
जिसका जीवन बन रहता है
श्रमित संयमित पाप विहीन ।।

भावार्थ– निरतिचार पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षा-व्रतों को जो शल्य रहित पालन करता है उसे भगवान ने व्रती श्रावक की संज्ञा दी है। माया, मिथ्यात्व, और निदान में तीन शल्य के भेद हैं। माया–ढोंग और पाखंड करने को कहते हैं जिसके मन में कुछ होता है बोल कुछ और ही बोलता है और काम कुछ और ही करके दूसरों को ठगता तथा धोखा देता है। अतत्व या कुतत्व अथवा कुदेवादि पर श्रद्धान करने को मिथ्यात्व कहते हैं। धर्म सेवन के बदले सांसारिक विषयों की कामना करने को निदान कहते हैं। इन तीनों शल्यों को निकाले बिना व्रतों का पालन करते हुए भी व्रती नहीं कहला सकता।

जो मिथ्यादृष्टि है या ढोंगी मायावी है अथवा संसार के विषय सुखों को आदर्श मान कर उन्हीं की पूर्ति के लिये धर्म सेवन या व्रत धारण करता है वह संसार में कर्म बंधन का ही पात्र होता है –जबकि व्रतादि मोक्ष मार्ग के साधन हैं। अतः मिथ्यादृष्टयादि व्रती नहीं कहला सकते।

(१३९)

सामायिक प्रतिमा

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवंदी ॥

यथा जात मुद्रा धारण कर
प्रात मध्य वा सायंकाल-
मन वच तन त्रय योग शुद्धि युत्
पापारंभ परिग्रह टाल-
प्रणमन कर आवर्तन पूर्वक
चतुर्दिशा में त्रय – त्रयवार-
पद्मासन या खड्गासन कर
आत्मध्यान सामायिक सार ॥

भावार्थ– प्रतिदिन प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल यथाजात मुद्रा धारण कर (निर्ग्रंथ साधु के समान) मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक पाँचों पापों का नियत समय तक (दो, चार या छह घड़ी पर्यंत) त्याग कर चारों दिशाओं में तीन २ आवर्त्त (अपने जुड़े हुए हाथों को बायीं ओर से दाहिनी ओर घुमाना) करते हुए प्रणाम करके पद्मासन लगा कर या खड्गासन से समता भाव पूर्वक आत्म स्वरूप का ध्यान वा तत्व चिन्तन में लीन होना सामायिक प्रतिमा है ।

दूसरी प्रतिमा वाला दिन में प्रायः दो बार और तीसरी प्रतिमा वाला दिन में तीन बार निरतिचार सामायिक करता है ।

(१४०)

प्रोषध प्रतिमा

पर्व दिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनि-गुह्य ।
प्रोषध नियम विधायी प्रणधि परः ोषधानशनः ॥

पर्व दिवस हैं चार—अष्टमी
चतुर्दशी द्वय द्वय प्रतिमास
इनमें नियमित अशन पान तज-
शक्ति प्रमित करना उपवास-
विषय कषायारंभ विरत हो
धर्म ध्यान में रहना लीन ।
प्रोषध प्रतिमा है यथार्थ में
तप श्रुत व्रत अभ्यास, प्रवीण !

भावार्थ— प्रतिमास दो अष्टमी एवं दोनों चतुर्दशी—इन चार पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध उपवास या प्रोषधोपवास करना तथा आरंभ परिग्रह का त्याग कर पूर्वोक्त प्रकार धर्म ध्यान में समय बिताना प्रोषध प्रतिमा है ।

इस प्रतिमा का धारक प्रोषधोपवास को निरतिचार पालन करता है तथा व्रत के दिन पांचों इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर सारा समय सविशेष रूप में धर्म ध्यान में ही व्यतीत करता है ।

(१४१)

सचित्त त्याग प्रतिमा

मूल फल शाक शाखा करीर कंद प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः ।

अपरिपक्व नहिं सेवन कर जो
हरित काय बिन हुए अचित्त ।
कंद मूल फल फूल शाख शाखा-
कोपल बीजादि सचित्त ।।
करुणाभाव समन्वित मन से
प्रासुक कर करता जलपान।
वह सचित्त त्यागी श्रावक है
दयामूर्ति जिन सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ– मूल, फल, शाख, शाखा, कोपल (पत्ते) कन्द, पुष्प बीज आदि भक्ष्य पदार्थ भी जो सचित्त हैं विना पके वा प्रासुक किये सेवन करने का त्याग करना सचित्त विरत प्रतिमा है। इस प्रतिमा धारी को आचार्य दयामूर्ति कह कर संबोधित करते हैं।

सचित्त शब्द का अर्थ सजीव वस्तु है। यहां सचित्त से अभिप्राय भक्ष्य स्थावर और प्रत्येक वनस्पति से है। अभक्ष्य साधारण वनस्पति का त्याग तो पहिले ही हो चुकता है। इस प्रतिमा का धारी फल शाक आदि सचित्त को स्वंय भी अचित्त कर सकता है।

(१४२)

रात्रि भुक्ति (भोजन) त्याग प्रतिमा

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रि भुक्ति विरतःसत्वेष्वनुकंपमानमनः ॥

अन्न पान आस्वाद्य लेह्य हैं
भोज्य वस्तुएँ चार प्रकार ।
इन सबके सेवन का मन वच-
तन से निशि में कर परिहार-
अनुकंपा पूर्वक जीवों के-
संरक्षण पर देना ध्यान-
रात्रिभुक्ति त्यागी श्रावक की
रीति यही है सूत्र प्रमाण ॥

भावार्थ– प्राणियों पर अनुकम्पा पूर्वक रात्रि में अन्न पान लेह्य और स्वाद्य वस्तुओं का मन वचन काय से बिलकुल त्याग कर देना रात्रिभुक्ति विरति प्रतिमा है।। यूँ तो श्रावक नीचली प्रतिमाओं में भी रात्रि-भोजन नहीं करता; किन्तु इसमें वह नवकोटि से पूर्णतया त्याग करता है।

(१४३)

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सम्।
पश्यन्नंग मनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ।।

मल से जो उत्पन्न हुए वा-
मल ही जनते सतत नितांत-
अति दुर्गंधित स्रोत बहाते
हैं जो शरीरांग सर्वांत ।।

नाम लिये भी लज्जा आती
विरति भाव से उन्हें निहार-
काम-भोग परित्याग वस्तुतः
ब्रह्मचर्य प्रतिमा निर्धार ।।

भावार्थ– यह शरीर माता पिता के रजवीर्य के संयोग से उत्पन्न हुआ है । अत: इसका मल ही बीज है तथा इससे निरंतर मल ही उत्पन्न होता है अतः यह मल की योनि भी है । इसके सिवाय इससे निरंतर नव द्वारों द्वारा नाना प्रकार का मल ही बहता है एवं स्वयं दुर्गंध युक्त और घृणास्पद भी है–इस प्रकार शरीर के स्वरूप का विचार करते हुए काम वासना से विरक्त होना - स्त्री मात्र से विषय सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । इस प्रतिमा का धारी ब्रह्मचारी कहलाता है ।

(१४४)

आरंभ त्याग प्रतिमा

सेवा कृषि वाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपात हेतो र्योऽसावारंभ विनिवृत्तः ॥

सेवा कृषि व्यापार प्रमुख-वा
गृह सूनाएँ पंच प्रकार-
हिंसा युत कार्यों का नियमित
करना त्याग-जान अघ द्वार-
यह आरंभ त्याग प्रतिमा है-
जिससे जीवन पाप विहीन-
धार्मिक चर्या में निमग्न रह
बन रहता निर्द्वंद, प्रवीण !

भावार्थ- सेवा (नौकरी) खेती, व्यापार आदि प्रमुख आरम्भों से जिसमें हिंसा प्रायः हुआ करती है -विरक्त होकर उनका त्याग करना ही आरंभ त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारी सेवा, खेती व्यापारादि करने का परित्याग कर अपने संचित किये धन से ही जीवन निर्वाह करता है। जीवन निर्वाह से अधिक धन को कुटुम्बियों में विभाजित एवं वितरण कर धर्म साधन करने में सोत्साह समय व्यतीत करता है। वह कूटने, पीसने आदि पांच सूनाओं का भी त्याग कर देता है।

(१४५)

परिग्रह त्याग प्रतिमा

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः संतोष परः परिचित्त परिग्रहाद्विरतः ॥

स्वर्ण रजत धन धान्य वसन गृह-
क्षेत्र भांड वा दासी दास
तज ममत्व सब में पुनि गृह में
वन कर रहना परम उदास ।
स्वस्थ सहज संतोष वृत्ति युत्
जीवन का करना निर्माण-
परिग्रह त्याग दशम प्रतिमा है-
शुचि नैर्ग्रन्थ्य पंथ अम्लान ॥

भावार्थ– सोना, चांदी, धन, धान्यादि दश प्रकार परिग्रह में, ममता का परित्याग कर निर्ममत्व भाव पूर्वक स्वस्थ और संतोषी बन कर निष्पृही जीवन व्यतीत करना परिग्रह त्याग प्रतिमा है ।

इस प्रतिमा का धारी घर में रहते हुए भी परिग्रह में ममत्व और बांछा का परित्याग कर उदसीन भाव से रहना है। मात्र आवश्यक सादा वस्त्र एवं - पात्रादि ही अपने पास रखता है । एवं कुटुम्बियों द्वारा जो भोजनादि की व्यवस्था की जाती है उसी को संतोष वृत्ति से ग्रहण कर सदा धर्म साधना मे लगा रहता है ।

(१४६)

अनुमति त्याग प्रतिमा

अनुमतिरारंभे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमति विरतः स मन्तव्यः ॥

रहा नहीं आरम्भ-परिग्रह
सँग लौकिक कार्यों में राग-
अतः स्वानुमति देने का भी
इन सब में करना परित्याग
असन, वसन, परिणयन, जीविका-
अथवा नूतन गृह निर्माण-
सकल स्वगृह कार्यों में अपनी-
अनुमति त्यजन-दशम पद जान ॥

भावार्थ– गृहस्थी के समस्त आरंभ, परिग्रहों एवं आजीविका, विवाह, गृह निर्माण आदि समस्त कार्यो में सलाह लेने पर भी सलाह न देना एवं गृह कार्यों में हस्तक्षेप न करना अनुमति त्याग प्रतिमा है ।

इस प्रतिमा का धारी परम उदासीन होकर अपना जीवन यापन करता है एवं समस्त गृह कार्यों में राग द्वेष का त्याग कर हर्ष विषाद नहीं करता । वह निमंत्रण भी स्वीकार नहीं करता । साथ में लिवा जाने पर भोजन कर आता है ।

(१४७)

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल – खण्डधरः ॥

गृह तज, कर—संप्राप्त तपोवन-
व्रत ले गुरु सन्निकट महान-
खंड वस्त्र धारण कर रहना-
तप करना मुनिराज समान ।।
भिक्षा वृत्ति प्रमाण दिवस में
एक बार लेना आहार-
यह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है-
सर्वोत्कृष्ट श्रावकाचार ।।

भावार्थ– अंत में गृहवास का भी परित्याग कर निर्ग्रंथ गुरु के समीप दीक्षित होकर व्रतों को धारण करना, भिक्षावृत्ति पूर्वक (साधु के समान) आहार लेना, खंड वस्त्र (ओछी चादर) धारण कर तथा तपश्चर्या करते हुए जीवन व्यतीत करना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है । इस प्रतिमा का धारक अपने उद्देश्य से वनाया गया भोजन ग्रहण नहीं करता । इसके दो भेद हैं - (१) क्षुल्लक (२) ऐलक ।

(१) क्षुल्लक–बैठकर पात्र में दिन में एक वार ही भोजन करते हैं । वे कैंची से भी केश कतरवा लेते हैं और शरीर पर लंगोटी के सिवाय एक छोटी चादर भी रखते हैं शेष चर्या ऐलक के समान ही करते हैं ।

(२) ऐलक–केशलोंच करते हैं, खड़े २ दिन में एक बार ही हाथों में आहार लेते हैं । पात्र में भोजन नहीं करते और शरीर पर केवल एक लँगोटी तथा शौच के लिए कंमडलु एवं जीवों के संरक्षणार्थ मयूर पिच्छिका अपने पास रखते हैं ।

(१४८)

यथार्थ में श्रेयज्ञाता कौन है ?

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ।।

'जीव मात्र का धर्म बंधु वा
पाप शत्रु है चिरकालीन ।'
एवं जान हिताहित जिसने-
किया तत्व श्रद्धान, प्रवीण !
उस जन को शुद्धात्म तत्व का-
भी हो जाये यदि परिज्ञान ।
निश्चयतः बस वही श्रेयविद्
कहलाता जिन सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थ-- संसार में आत्मा का वास्तविक शत्रु पाप है एवं बंधु यदि कोई है तो वह धर्म है । इस प्रकार निश्चय करता हुआ जो विवेकी पुरुष यदि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भी जान लेता है। तदि वह वास्तव में श्रेय का ज्ञाता बन कर आत्म कल्याण करने में समर्थ हो सकता है ।

(१४९)

धर्माचरण का परिणाम

येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टि क्रिया रत्नकरण्ड भावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धि स्त्रिषु विष्टपेषु ।।

आत्मसात् कर सम्यग्दर्शन-
विमल ज्ञान चारित्र निधान-
अन्तरात्म परिपूर्ण बनाया
जिसने रत्नकरण्ड समान-
उस जन प्रति सर्वार्थसिद्धियां-
आकर्षित हो स्वयं समग्र-
पति इच्छुक कन्या सम वरने-
त्रिभुवन में रहती अति व्यग्र ।।

भावार्थ- जिस व्यक्ति ने सम्यक्दर्शन ज्ञान और पवित्र चारित्ररूपी रत्नों को आत्मसात् कर अपने को रत्नत्रय का करण्ड (मंजूषा-पिटारा) बनाया है अर्थात् जिसकी अंतरात्मा में रत्नत्रय विद्यमान हैं उस व्यक्ति के प्रति सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धियाँ स्वयं ही पति इच्छुक कन्या के समान तीनों लोक में सब ओर से आकर्षित होकर वरण कर लेती हैं। अर्थात् उसे लोक में सभी सिद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं।

(१५०)

अन्त-मंगल !

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव-
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीतात्-
जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ।।

कामी को कामिनिवत् शाश्वत-वर सुख दें सद्दृष्टि ! विशाल।
जननी सम मम संरक्षक बन संरक्षण दे देवि ! त्रिकाल ।
मानव कुल-कुलीन कन्या सम भगवति ! कर सर्वात्म पुनीत ।
हे जिनपति पदपद्म प्रेक्षिणी-सम्यक्दर्शन श्री सुविनीत !

जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की ओर उन्मुख हे मेरी दृष्टि लक्ष्मी ! जिस प्रकार कामी पुरुषों को कामिनी सुख का भास कराती है उसी प्रकार मुझे भी तू वास्तविक सुख प्रदान कर ! स्नेहमयी माता जिस प्रकार पुत्र का प्रेम पूर्वक परिपालन व संरक्षण करती है उसी प्रकार तू भी मेरा संसार के विविध दुखों से संरक्षण कर, ! एवं जिस प्रकार गुणवती कन्या अपने पावन शील से दोनों कुलों को पवित्र करती है उसी प्रकार हे भगवति ! तू भी हमारी (सब की) आत्माओं को गुण संपन्न बना कर वास्तविक पावनता प्रदान कर !

इति सप्तमोऽध्यायः

माद शुक्ला चतुर्दशी
वीर नि. सं. २५०५
विक्रम सं. २०३४
इन्दौर
दिनांक २६-८-७७ ई.

श्रीमद्भगवत्समंतभद्र विरचित संस्कृत रत्नकरंड श्रावकाचार ग्रन्थ की रत्नकरंड गौरव नामक हिन्दी गद्य एवं पद्यानुवाद समाप्त हुआ ।

भावानुवादकः-
नाथूराम डोंगरीय जैन न्यायतीर्थ

लेखक की सर्वोपयोगी अन्य रचनाएँ

समयसार वैभव--यह महान ग्रंथ समयसार का सचित्र 'सरल' सुबोधभाषा में पद्यानुवाद हैं। मूल समयसार में भगवत्कुंदकुंद के अध्यात्म अमृत सिन्धु का सरलता से पान कराने हेतु इसकी रचना की गई है। ग्रंथ का सार समझने हेतु श्रीमान् विद्वद्वर श्री जगन्मोहनलालजी सिद्धांत शास्त्रीजी की विस्तृत भूमिका भी इसी में संलग्न है।

प्रवचनसार सौरभ--उक्त आचार्य श्री के हीं प्रवचनसार नामक महान ग्रंथ का सरल हिन्दी भाषा में यह पद्यानुवाद है। सर्व साधारण को स्वाध्याय में सरलता हेतु मूल गाथा तथा हिन्दी पद्य के साथ २ नीचे भावार्थ भी दिया गया है। इसकी भूमिका भी श्रद्धेय पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने लिखी है। जीव का अनादि-कालीन मोह द्रव्य गुण पर्याय का यर्थार्थ स्वरूप जानने और स्व-पर तत्व का निर्णय करने से ही नष्ट हो सकता है। इसके बाद हमें क्या करना चाहिये—इसीका विवेचन इस ग्रंथ में आचार्य श्री द्वारा किया गया है।

द्रव्यसंग्रह दीपिका—यह श्रीमद्भगवन्नेमिचन्द्राचार्य के मूल बृहद्द्रव्यसंग्रह का सरल भाषा में भावार्थ सहित हिन्दी अनुवाद है। निश्चय व्यवहार की आधुनिक खींचतान से परे इसमें प्रत्येक द्रव्य का, तत्वों का तथा मोक्ष मार्ग का दोनों नयों से समन्वय रूप में वर्णन किया गया है, जो समयसार के स्वाध्याय के पूर्व पठनीय है। इसकी प्रस्तावना श्री पं. नाथूलालजी शास्त्री ने लिखी है और भूमिका स्वयं लेखक ने।

रत्नकरण्ड गौरव--यह श्री स्वामी समंतभद्राचार्य के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का भावार्थ सहित हिन्दी काव्य में अनुवाद है जो आपके हाथ में है।

जैन धर्म--यह जैन पताका से सुसज्जित सर्व साधारण को जैन धर्म के सार्वजनीन स्वरूप, महत्व, प्राचीनता, समीचीनता एवं सिद्धांतों का परिज्ञान कराने के उद्देश्य से लिखी गई पुस्तिका है जिसकी अब तक १२००० प्रतियाँ चार संस्करणों में मुद्रित हो चुकी है। धर्म प्रभावनार्थ भेंट स्वरूप वितरण के लिये यह सर्व प्रशंसित है। इसके पढ़ने से कोई भी व्यक्ति यह जान सकता है कि जैन धर्म क्या है।

प्रश्नोत्तर रत्न मालिका--यह राजर्षि अमोघ वर्ष की अद्वितीय अद्भुत कृति का मूल सहित हिन्दी में भावानुवाद है। जो प्रत्येक व्यक्ति को आत्महितार्थ कंठस्थ करने योग्य है।

भक्तामर काव्य--आचार्य श्री मानतुंगके भक्तामर का यह हिन्दी में अत्यंत सरल काव्य के रूप में पद्यानुवाद है। सातवीं वार मुद्रित होने जा रहा है, भक्तों को भगवद् भक्ति का यह सुन्दर साधन है।

वीर प्रतिभा—यह राधेश्याम रामायण की तर्ज में परम पूज्य भगवान महावीर के जीवन का सरल भाषा में चित्रण है।

रक्षाबन्धन कथा--यह भी सरल पद्यों में राधेश्याम रामायण की तर्ज में सर्वोपयोगी रचना है। साथ में सलूना पूजन भी संलग्न है।

पता:—जैन साहित्य प्रकाशन, ५।१, तम्बोली बाखल, इन्दौर २

'समयसार वैभव' ग्रंथ पर कुछ प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ

मैंने समयसार वैभव ग्रंथ की पांडुलिपि देखी । यह भगवत्कुंदकुंदाचार्य के 'समयाप्राभृत ग्रंथ का भावानुवाद है । प्रथम तो किसी महान ग्रंथकर्ता के अभिप्राय को समझना और फिर उसको छंदोबद्ध पद्यमयी भाषा में प्रकट करना—यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है । परन्तु समझा जा सकता है कि पंडितजी का इस दिशा में प्रयत्न सफल हुआ है । आपका परिश्रम सराहनीय है । प्रस्तुत रचना जैन अध्यात्म तत्व को समझने में सहायक होगी ।

—न्यायालंकार, जैनसिध्दांतमहोदधि, स्याद्वादवारिधि,
(स्व.) ब्र. पं. बंशीधरजी शास्त्री, उदासीन आश्रम इंदौर

"श्री डोंगरीयजी ने समयसार को हिन्दी पद्यबद्ध किया है । पद्य रचना गाथानुसारी है । वास्तव में रचयिता अपनी रचना में सफल हुए हैं । उन्होंने उसका 'समयसार वैभव' नाम दिया है । हम पाठकों से उक्त रचना का आनंद लेने की प्रेरणा करते हैं । यह कण्ठस्थ करके नित्य पाठ करने लायक है ।"

जैन संदेश मथुरा
भाग ४१ संख्या ३७

—कैलाशचन्द्र शास्त्री (सिध्दांताचार्य)
संपादक जैन संदेश, अधिष्ठाता—स्याद्वाद-महाविद्यालय वाराणसी

'समयसार वैभव' वस्तुतः अद्‌भुत है । जो प्राकृत संस्कृत नहीं जानते पर भगवान् कुंदकुंद और उनके ही अवतार स्वरूप आचार्य अमृतचंद्र का वचनामृत पान करना चाहते हैं, उनके लिये 'समयसार वैभव' एक अधिक सुन्दर ग्लास का काम करेगा । आशा है आपका यह प्रयास बहुजन हिताय बहुजन सुखाय बनेगा ।'

—प्रो. डॉ. न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया M. A. Ph. D.
शास्त्राचार्य, वाराणसी (भू. पू. अध्यक्ष जैन विद्वत्परिषद्)

"समयसार के प्रबल विवाद मय वातावरण में भी कवि ने चातुर्यता पूर्वक बचते हुए सफलता पूर्वक समयसारीय पद्य रचना की है । ग्रंथ अत्यंत उपयोगी बन गया है ।"

—सुप्रसिध्द समालोचक (स्व.) पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ
२ अगस्त ७१ संपादक—'वीर' देहली

"समयसार' जैसे उपयोगी ग्रंथ की प्राकृत गाथाओं को शुद्ध हिन्दी में अनूदित कर अध्यात्म के जिज्ञासुओं की जहाँ साध पूरी की है, वहीं मातृभाषा हिन्दी की भी सेवा की है । स्वनाम धन्य पं. बनारसीदास के बाद संभवतः यह पहली रचना है जो समयसार को लेकर पद्यानुवाद के रूप में की गई है । ग्रंथ के हार्द को प्रारंभ से अंत तक ज्यों का त्यों रखने की अभिलाषा रही है, पद्यानुवाद में कहीं अर्थ की खींचातानी नहीं है ।"

—डॉ. पं. लालबहादुर शास्त्री, M. A. Ph. D. संपादक 'जैनगजट'
वर्ष ७६ अंक ९ जौलाई ७१

"जैन समाज में आध्यात्मिक ग्रंथ के रूप में 'समयसार' का बहुत बड़ा महत्व है, इस ग्रंथ पर जो पद्यमय रचना डोंगरीयजी ने की है सचमुच वह सुन्दर, सरल और सुबोध है। इससे पाठकों के ज्ञान में वृद्धि होगी। लेखक धन्यवादार्ह है।

भँवरलाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, संपादक 'वीरवाणी'
जयपुर, वर्ष २३ अंक ८, जनवरी २२ सन् ७२

प्रस्तुत प्रकाशन समयसार ग्रंथ का हिन्दी पद्यानुवाद है। इसमें मूलग्रंथ तथा अमृतचन्द्राचार्य एवं जयसेनाचार्य की टीकाओं का भाव लेकर भावानुवाद किया गया है। ग्रंथ आद्योपान्त्य पठनीय है।

सन्मति संदेश. देहली
वर्ष १६ अंक २

प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री
संपादक 'सन्मति संदेश'

आपने विशेष अध्ययन के पश्चात् स्याद्वाद दृष्टि से 'समयसार वैभव' स्वरूप पद्य रचना करके एकांत कथन के निराकरण का जो स्तुत्य प्रयत्न किया है उससे ग्रंथ का महत्व तो बढ़ा ही है। साथ ही मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग के स्वरूप को सही ढंग से समझाने का प्रयत्न भी किया है। इसके लिये आप बधाई के पात्र है।

उज्जैन
२२-११-७०

दयाचन्द्र सिध्दाँत शास्त्री, न्यायतीर्थ
प्राचार्य–सूर्यसागर विद्यालय

'समयसार' अध्यात्म ग्रंथ की प्राकृत गाथाओं का सरल हिन्दी काव्य में यह ('समयसार वैभव') अनुवाद अति उपयोगी शांति से स्वाध्याय करने योग्य है। रचना के लिये पं. डोंगरीयजी अतीव धन्यवाद के पात्र हैं।

–संपादक 'जैन मित्र' सूरत
वर्ष ७२ अंक १०, १४ जनवरी ७१

"पंडितजी ने समयसार स्तर का यह सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद जो जन साधारण के लिये प्रस्तुत किया है वह बहुत ही उपयोगी व निश्चय व्यवहार के समन्वय को साधनेवाला है। समयसार को पढ़ने से पहिले व साथ साथ इस सरल पद्यानुवाद को पढ़ने से अनेक मिथ्या भ्रांतियाँ दूर हो सकती हैं। समाज को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।"

(पं.) मनसुखलाल काला नाँदगाँव
संपादक– जैन दर्शन'

वर्तमान भौतिकवादी युग में अध्यात्म पर आधारित भारतीय दर्शन में जैन वाङ्मय को सार रूप में प्रदर्शन कर आत्म कल्याण हेतु इस ग्रंथ का प्रकाशन अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसके लिये लेखक का प्रयत्न अभिनंदनीय है।

वीरेन्द्रकुमार चौधरी
एम. ए, एम. काम, एल-एल. बी.
व्याख्याता

नूतन विद्यालय
इन्दौर